श्री कान्ति जैन तत्व ज्ञान सिरीज पुष्प ४ था

स्याद्वाद

(स्याद्वाद मत समीक्षा की तृतीय गुजराती आवृत्ति का
हिन्दी अनुवाद)

अनुवादकः—
व्या० का० तीर्थ, पं० चन्दनमल जी लसोड़
छोटी सादडी (मेवाड़)

लेखक तथा प्रकाशक :—
स्व० शंकरलाल डाह्याभाई कापडीया

श्री कान्ति जैन तत्व ज्ञान सिरीज पुष्प ४ था

स्याद्वाद

(स्याद्वाद मत समीक्षा की तृतीय गुजराती आवृत्ति का
हिन्दी अनुवाद)

लेखक तथा प्रकाशक :—
स्व० शंकरलाल डाह्याभाई कापडीया

अनुवादक :—
व्या० का० तीर्थ, पं० चन्दनमल जी लसोड़
छोटी सादडी (मेवाड़)

प्रथमावृत्ति

प्रति २०००

विक्रम सं० २०११

वीर सं० २४८०

प्रकाशकः—
मनुभाई शङ्करलाल कापडीया,
१६५, बाज़ार गेट स्ट्रीट,
कोट; बम्बई १

प्रथम आवृत्तिः सं० २००६
द्वितीय आवृत्तिः सं० २००६ } गुजराती
तृतीय आवृत्तिः सं० २००७
प्रथम आवृत्ति—हिन्दी सं० २०१०

कीमत बारह आने

प्राप्ति स्थान :—
मेघराज जैन पुस्तक भण्डार,
गोड़ीजी चाल कीका स्ट्रीट, बम्बई।

सहायकः—
रा० रा० श्रीयुत खीमचन्द भाई
छेड़ा ज्वेलरी मार्ट
झवेरी बाज़ार, धनजी स्ट्रीट।

स्वर्गस्थ, पंजाब केसरी
आचार्यदेव श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी

शोकोद्गार

इस पुस्तक के मूल लेखक मेरे पूज्य पिता जी श्री शंकरलाल डाह्या भाई ने 'पूज्यपाद मुनिराज श्री विद्याविजय जी की प्रेरणा से इसका हिन्दी अनुवाद कराना और छपवाने का निर्णय किया, बम्बई में यह कार्य होना कठिन था इसलिये स्वर्गस्थ गुरुदेव आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज की अनुमति से यह कार्य सम्पन्न करने के लिये पूज्यपाद मुनिराज श्री विद्याविजय जी को ही प्रार्थना की और उन्होंने मेरे पिताजी की प्रार्थना को स्वीकार किया। काम प्रारम्भ हुआ और अकस्मात् मेरे पिता जी का स्वर्गवास हुआ। मेरे शिर पर चिन्ता का पहाड़ टूट पड़ा अभी मेरा दिल कुछ हलका ही न हो पाया था कि एकाएक पूज्य पाद गुरुदेव श्री विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज भी स्वर्गवासी हुये, अब मेरे दुःख का वर्णन मैं क्या कर सकता हूँ अब तो गुरुदेव के शिष्यों और मेरे पिताजी के मित्रों एवं श्रीमान् सेठ खीमचन्द भाई छेड़ा आदि से मेरी यही प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक सम्बन्धी मेरे पिताजी की भावना को पूरी कराने का कष्ट करें और मेरी चिन्ता हलकी करें।

मनुभाई शङ्करलाल कापडीया

अज्ञानतिमिर तरणि, कलिकाल कल्पतरु, भारत दिवाकर, पंजाब केशरी युगवीर जैनाचार्य श्री १००८ श्रीमद् विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर आ. श्री विजय समुद्रसूरिजी तथा गणिवर श्री जनक विजयजी के सदुपदेशसे वीसा श्रीमाली तपागच्छ श्री संघ जामनगर (सौराष्ट्र) की तर्फसे सादर भेट सं २०१३.

परमागमस्य जीवं निषिद्ध जात्यन्ध सिन्धुर विधानं।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

भावार्थ—जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान को दूर करने वाले, समस्त नयों के द्वारा प्रकाशित, विरोधों का मथन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के जीवन भूत, एक पक्ष रहित 'स्याद्वाद' को मैं नमस्कार करता हूँ।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि,

कालिकल्पतरु

[लेखक—शङ्करलाल डाह्याभाई कापडीया बम्बई]

"यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत······"

जब जब धर्म की ग्लानि होती है; मनुष्यों के ऊपर दुःख के बादल घिर आते हैं, तब तब किसी महापुरुष का जन्म होता है। गीता का यह सूत्र सुप्रसिद्ध है।

जैन समाज के सकल श्रावक-श्राविकाओं का जब दुःख की परम्परा के अन्तर्गत हुआ; तब उनके आंसू पोंछने के लिये, उनके दुःख में हिस्सा बंटाने के लिये ही आपने 'पंजाब केसरी' का जन्म हुआ था यदि ऐसा कहा जाय तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनके द्वारा पंजाब में किये गये समाजोद्धार के अगणित कार्यों तथा बम्बई में किये गये कार्यों को देखने पर इस कथन की यथार्थता की प्रतीति होती है। बम्बई में किये गये सामाजिक प्रगति के कार्यों का सिंहावलोकन करने के बाद यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि इस महापुरुष का जन्म समाज के महा-पुण्य प्रताप से ही हुआ है। समाज का सद्भाग्य है कि वे समाज के लिये भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। इन्हीं सब कारणों से समाज उनको 'युगवीर' के उपनाम से सम्बोधित करता है।

पूज्य श्री ने युवावस्था में तो अथक परिश्रम द्वारा समाज सेवा तथा शासन अभिवृद्धि के अनेक कार्य किये ही हैं; पर इस वृद्धावस्था में भी जबकि उनकी शारीरिक स्थिति कमजोर हो गई है, वे दिन रात तल्लीन होकर प्रयास करते हैं, यह देख कर किसकी आंख में हर्ष के आंसू न आ जाते होंगे।

किसी भी धर्म को किसी प्रकार की भी क्षति पहुँचाये बिना जैन तथा जैनेतरों की हजारों मानव मेदिनी के बीच जाहिर व्याख्यान द्वारा जैन धर्म को विश्वधर्म ठहरा कर उसके गौरव में वृद्धि करना ही समाज तथा विश्वप्रेम के साथ साथ उनके ज्ञान-निष्ठत्व को प्रमाणित करता है। इसी लिये बम्बई के आज़ाद मैदान में वहां के मेयर (नगरपति) श्रीमान् गणपतिशङ्कर को यह कहना पड़ा कि "राजकीय क्षेत्र में जिस प्रकार 'बल्लभ' अवतीर्ण हुए धर्मक्षेत्र में उसी तरह विजयवल्लभ सूरिजी का जन्म हुआ" पूज्य श्री की महत्ता का ज्ञान कराने के लिये ये शब्द ही पर्याप्त हैं।

भगवान महावीर स्वामी ने गौतम गणधर को कहा है कि— "हे गौतम ! तू क्षणमात्र भी प्रमाद न करना" पूज्य श्री के जीवन के आज तक के कार्य चमत्कार को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि इस सुनहरे सूत्र को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह उतार लिया है।

अपने मुनिराज व्याख्यानों में बहुधा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख कर चलने का उपदेश देते हैं; परन्तु उस पर अमल करने वाले तो पूज्य श्री जैसे विरले ही हैं।

पूज्य श्री का इस बार का बम्बई का चातुर्मास समाजोद्धार के लिये उनकी भीष्म प्रतिज्ञा, और उसमें श्री खीमजी भाई छेड़ा का सहयोग, यह सब जैन इतिहास के पृष्ठों पर सुवर्णाक्षरों से हमेशा अङ्कित रहेगा। पूज्य श्री ने समाजोद्धार तथा शासन अभिवृद्धि के कार्य किये हैं, इतना ही नहीं उन्होंने शासन के एक सच्चे सुभट की तरह कार्य किया है। पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रखर विद्वान और महापुरुष ने आर्य समाज की स्थापना की। हज़ारों हिन्दू भाइयों ने उस धर्म को स्वीकार किया। उस समय जैन धर्म पर भीषण प्रहार होने लगे; निन्दा-

त्मक साहित्य भी प्रकाशित हुआ। ऐसे समय पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज तथा उनके 'वल्लभ' शिष्य और अपने पंजाब केसरी श्री विजयवल्लभ सूरिजी—इन दोनों गुरु शिष्यों ने मिलकर उनका प्रबल विरोध किया और उनके आक्षेपों का करारा जवाब देने वाला साहित्य भी प्रकाशित किया। इस प्रकार उनका पराभव कर जैन शासन को विजयवन्ता रक्खा। शासन के ऊपर उनका यह उपकार कोई साधारण नहीं है।

अन्त में वहां की जनता ने इस गजग्राह को मिटाने और इन दोनों महापुरुषों को एकत्र करने का विचार किया। पूज्य श्री आत्माराम जी को स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती से मिलने के लिये आमन्त्रण भेजा गया। आमन्त्रण का पूज्य श्री ने सादर सत्कार किया और इस प्रकार उस गजग्राह का अन्त हुआ। ऐसे ऐसे प्रतापी मुनि रत्न शासन की शोभा और समाज के आभूषण रूप हैं।

जिस प्रकार मनुष्य की छाया उसके पीछे २ चलती है, उसी प्रकार प्रभावशाली पुरुषों की प्रभाव छाया भी उनके साथ साथ चलती है। वे जहां भी जाते हैं, लोगों पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। प्रभाव की यह छाया ही जब मूर्तस्वरूप धारण कर लेती है, तब वह चमत्कार या सूरिमन्त्र प्रभाव के नाम से पहिचानी जाती है।

पूज्य श्री का प्रभाव पंजाब की हिन्दू, सिक्ख आदि समस्त जनता पर भी पड़ा है, यही उनके विशाल हृदय का परिचायक है। जिनका हृदय विशाल एवं निष्पाप होता है, वे ही महापुरुष हो सकते हैं। जिनकी दृष्टि संकुचित होती है, वे कूपमण्डूक की तरह हैं। ऐसे व्यक्ति जनता पर अपने धर्म का प्रभाव नहीं डाल सकते।

जैन समाज में काफी संख्या में मुनिराज हैं। उनमें से बहुत से भिन्न भिन्न दिशा में शासनोन्नति के कार्य कर रहे हैं। बहुत

से साहित्य के उपासक भी हैं; परन्तु मेरी ७० वर्ष की इस ज़िन्दगी में मैंने यदि कोई समाजोद्धारक महापुरुष देखे हैं तो वे केवल दो हैं—एक हैं, सद्गत योगनिष्ठ आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर जी और दूसरे हैं, अपने 'पंजाब केसरी' आचार्य देव श्री विजयवल्लभ सूरिजी महाराज। जैन समाज में बोर्डिङ्ग, गुरुकुल, विद्यालय कन्याशाला तथा लाइब्रेरी आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना कर शिक्षा की नींव डालने वाले, श्रावक समाज के सहायक, सर्वधर्मों के प्रति सहिष्णुता रख कर जैन धर्म के गौरव में वृद्धि करने वाले, विश्वभावना के प्रेरक, स्थान स्थान पर धर्म का प्रचार करने वाले तथा साहित्य की उपासना करने वाले ये दोनों महापुरुष आदि युगपुरुष की कार्य दिशा में समान है। दोनों महापुरुषों की कार्यदिशा भिन्न होते हुए भी दोनों का ध्येय एक ही है।

पूज्य श्री पर गुरुदेव श्री आत्माराम जी महाराज का अवर्णनीय धर्म प्रेम था। पूज्य श्री की भी उनके प्रति अनन्य भक्ति थी। यही कारण है कि गुरुदेव ने उनको अपना पट्टधर बनाया है। उनके निष्कपट हृदय विशुद्ध चरित्र, निष्पाप दिल तथा कार्य करने की उत्कट इच्छा आदि अनेक सद्गुणों ने ही उनको उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।

पूज्य श्री दीर्घायु हों तथा उनकी समाज सेवा की और शासन प्रभावना की अभिलाषा उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक रहे। साथ ही जैन शासन की विजय हो, ऐसी अन्तःकरण की इच्छा के साथ विराम लेता हूँ।

❀ पू. आ. श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी महाराज हीरक जयन्ती अङ्क में लिखे गये लेख से उद्धृत (पृष्ठ ११६)

आभार प्रदर्शन

—:❀:—

इस पुस्तक की दो आवृत्तियां पहले प्रकाशित हो जाने के बाद इसकी तीसरी आवृत्ति में उचित संशोधन तथा परिवर्धन किया गया था। नयरेखा, सप्तभङ्गी तथा निक्षेपा के विषय नये बढ़ाये गये थे।

जैसा कि पहली आवृत्ति में कहा गया था—इस विषय पर लिखने के लिये मुझे रायबहादुर सेठ श्री जीवतलाल भाई प्रतापशी के अनेकान्त सम्बन्धी निबन्ध योजना से प्रेरणा मिली है। इसके लिये मैं उनका आभार मानता हूँ।

इस पुस्तक की पहली दो आवृत्तियों में उचित सुधार धर्म-शास्त्र निष्णात श्री सुरचन्द भाई पु. वदामी तथा श्री फतहचन्द भाई ने किया था। इस तृतीय आवृत्ति में भी यह कार्य श्री फतह-चन्द भाई ने ही किया है। उन्होंने इस पुस्तक की मेरी हस्त-लिखित प्रतिलिपि को पढ़ कर उसकी त्रुटियों को दूर करने के साथ २ मुझे प्रोत्साहन तथा योग्य मार्गदर्शन भी दिया है; इन सब के लिये मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूँ। पालनपुर निवासी श्री कान्तिलाल भाई बी० ए० की अमूल्य सूचनाओं के लिये भी मैं उनका आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपने उन मित्रों एवं स्नेहियों का आभार मानना भी नहीं भूल सकता कि जिन्होंने मुझे इस कार्य के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित किया है।

परम पूज्य विद्वद्वर्य मुनि महाराज श्री जम्बु विजय जी ने इस 'स्याद्वाद मत समीक्षा' की तृतीय गुजराती आवृत्ति को स्वयं परिश्रमपूर्वक पढ़ कर सुधारा है। उसी पर से इसका हिन्दी

अनुवाद कराया गया है। इसी तरह परम पूज्य विद्वद्वर्य मुनि महाराज श्री विद्याविजय जी महाराज ने इसका हिन्दी अनुवाद कराने तथा इसको छपाने की कृपा की है; इसके लिये मैं उपर्युक्त दोनों पूज्यों का आभार मानता हूँ।

कलिकल्पतरु, पंजाब केसरी, आचार्य देवेश श्रीमद् विजय-वल्लभ सूरि ने अपने प्रशस्य शिष्यरत्न मुनि महाराज श्री जनक विजय जी को स्वयं अपने पास बिठा कर इसको अक्षरशः पढ़ाया और सुनने के बाद समय परत्व रा. रा. श्रीयुत खीमजी भाई छेड़ा ज्वेलरी भाई वाले को उनके द्वारा पूज्य श्री समुद्रविजय जी को आचार्य पदवी प्रदान करने के समय दी गई रकम में से इस पुस्तक का हिन्दी करा देने का आदेश दिया और इस गुरुभक्त ने भी उनकी आज्ञा को शिरसा वन्दन कर स्वीकार किया और इसका हिन्दी अनुवाद छपवा दिया उसके लिये मैं पूज्य आचार्य देवेश श्रीमद् विजयवल्लभ सूरि जी का तथा रा. रा. खीमचन्द भाई छेड़ा का आभारी हूँ। ॐशान्ति

ता० ७-३-५३
१६९, बाजार गेट स्ट्रीट
कोट, बम्बई नं० १

निवेदकः—
शङ्करलाल डाह्याभाई कापडीया

अभिप्राय दर्शन

(१)

गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान प्रो० आनन्दशङ्कर वापुभाई ध्रुव ने 'स्याद्वाद सिद्धान्त' पर अपना अभिप्राय देते हुए लिखा है कि—'अनेक सिद्धान्तों का अवलोकन करने के पश्चात् उन सब का एक में समन्वय करने की दृष्टि से ही 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन किया गया है। 'स्याद्वाद' हमारे सम्मुख एकीकरण का दृष्टि बिन्दु लेकर उपस्थित होता है। शङ्कराचार्य ने 'स्याद्वाद' के ऊपर जो आक्षेप किये हैं, उनका इसके वास्तविक रहस्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सुनिश्चित है कि विविध दृष्टि बिन्दुओं से निरीक्षण किये बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। इसी में ही 'स्याद्वाद सिद्धान्त' की उपयोगिता और सार्थकता है। महावीर के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को बहुत से 'संशय-वाद' कहते हैं, परन्तु मैं इसे नहीं मानता। 'स्याद्वाद' 'संशयवाद' नहीं, प्रत्युत यह वस्तु दर्शन की व्यापक कला सिखाने वाला एक सिद्धान्त है।

(२)

जैन मन्दिर, पालेगाम (नासिक)
२०–६–५२

सुश्रावक शङ्करलाल डाह्याभाई,

धर्म लाभ। पत्र और पुस्तिका मिली। 'स्याद्वाद' जैसे गूढ़ विषय पर सरल भाषा में लिखने में विरले ही सफल हो पाते हैं। पर प्रथम दृष्टि में ही मुझे लगा कि आप ने काफी सुबोध और सरल भाषा में लिखा है और इसीलिये आप के लिखने का ढङ्ग मुझे पसन्द आया। परन्तु साथ ही मुझे लगता है कि—यदि कुछ स्थलों पर संशोधन करके नई आवृत्ति छपाई जाय तो अच्छा हो।

लि मुनि जम्बुविजय

बम्बई ४

धर्मस्नेही भाई ता० १०-१२-५१

श्री शङ्कर भाई, (३)

आपके तत्व ज्ञान सिरीज़ के प्रथम पुष्प 'सरल स्याद्वाद मत समीक्षा' की तृतीय आवृत्ति को अथ से इति तक पढ़ गया। आपने 'स्याद्वाद' जैसे कठिन विषय का काफ़ी सुबोध और सरल भाषा में प्रतिपादन किया है। यह आपकी स्याद्वाद सिद्धान्त विषयक रुचि और अभ्यास का परिचायक है।

नई आवृत्ति में नयरेखा, सप्तभङ्गी तथा निक्षेपादि के विषय बढ़ाने के साथ साथ संक्षिप्त टिप्पणी देकर पुस्तक की उपयोगिता में विशेष वृद्धि कर दी गई है।

मेरे नम्र अभिप्राय के अनुसार, यदि आप जैन धर्म के ऐसे ही मूल-भूत विषय—जैसे, नय तथा प्रमाण, कर्मवाद षड्द्रव्य, त्रिपदी, रत्नत्रयी आदि पर ऐसी ही पुस्तकें प्रकाशित करें तो निश्चित रूप से साधारण जनता को इस विषय का ज्ञान सरलता पूर्वक हो सकता है। ऐसी पुस्तकों में भाषा जहाँ तक हो सके सरल रक्खी जाय और जैन परिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी यथासम्भव कम किया जाय तो इन विषयों पर रुचि रखने वाले जैनेतर पाठकों को ये पुस्तकें काफ़ी उपयोगी और सुग्राह्य होंगी, ऐसा मैं मानता हूं। यह कार्य आप के द्वारा बहुत अच्छी तरह से हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। यदि ऐसा हो जाय तो हमारी शिक्षण संस्थाओं में इन विषयों की पाठ्य पुस्तकों की जो कमी दृष्टिगोचर हो रही है; वह भी दूर हो जाय। यदि आप इस कार्य को हाथ में लें तो आपके तद्विषयक प्रेम, मनोयोग और परिश्रमशीलता के कारण आप उसमें अवश्य सफल होंगे।

आपकी इस पहली पुस्तक को अपनी प्रत्येक शिक्षण संस्था को अपनाना चाहिये, ऐसी मेरी सिफारिश है।

लि. भवदीय शुभेच्छुक—

पु. सु. खदामी के प्रणाम।

शिवपुरी (ग्वालियर)

दिन १०–६–५१ धर्म सं० २६

देवगुरु भक्तिकारक जैन तत्वज्ञ भाई शङ्करलाल डाह्याभाई,

धर्मलाभ। पत्र और आपकी स्याद्वाद मत समीक्षा नामक पुस्तक मिली।

इस छोटी सी पुस्तिका में आपने स्याद्वाद जैसे तात्विक और गहन विषय का बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से विवेचन किया है। भाषा भी सादी और सरल है, जिससे साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी स्याद्वाद के तत्व को सरलता के साथ समझ सके। इसके गहन अभ्यास के साथ लेखन कला और भाषा के ऊपर का आपका अधिकार प्रकट होता है।

ऐसी सरल भाषा में तात्त्विक विषयों की अनेक पुस्तकें आपके द्वारा प्रकाशित हों, ऐसा चाहता हूँ।

विद्याविजय,

स्थान—पालीताणा

मोती कड़ीआ की मेड़ी, श्रावण शुक्ला ६

(२)

सुश्रावक शङ्करलाल डाह्याभाई योग, धर्म लाभ।

अभिप्राय के लिये भेजी गई तुम्हारी स्याद्वाद मत समीक्षा नामक बहुमूल्य पुस्तक मिली, कार्ड भी मिल गया है। साद्यन्त पढ़ गया हूँ। फिर भी समयाभाव के कारण उचित ध्यान देकर नहीं पढ़ पाया हूं। लेकिन पढ़ते समय यह रचना बहुत आवश्यक और सिद्धान्तानुकूल जान पड़ी। भाषा की सौष्ठवता को क़ायम रखते हुए पुस्तक में स्याद्वाद को सर्व योग्य बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इस छोटे पुस्तक रत्न में आपने श्री जिनेश्वर भगवान निदर्शित स्याद्वाद सिद्धान्त को आबाल वृद्ध सभी को रसप्रद रूप से प्रेरक बने, ऐसे उत्तम और आदर्श तरीके से व्यक्त किया है, यह देख कर आनन्द होता है। इस प्रकार सिद्धान्त की

दृष्टि में रखकर ऐसे और इससे भी अधिक सुन्दर साहित्य प्रसिद्ध करने में शासन देव आपको सहायता दे, यही शुभेच्छा।

मुनि हंस सागर
३६४ सैन्डहर्स्ट रोड बम्बई ४

प्रिय शंकरलाल भाई।

'स्याद्वाद मत समीक्षा' भेजने के लिये आभार। मैं इसको पढ़ गया हूँ। संक्षेप में भी आपने विषय को उचित न्याय दिया है। जैन और इतर दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को प्रकट करने वाली ऐसी छोटी पुस्तिकाओं की आवश्यकता है।

इसकी नई आवृत्ति संभव हो तो एक दो बातें सूचित करूँ। इसकी भाषा जितनी सरल होगी उतनी ही सामान्य पाठकों तथा जैनेतर लोगों के द्वारा यह विशेषरूप से पढ़ी जायगी। इसलिये सरल स्याद्वाद' के रूप में अवश्य प्रकाशित करो, यह इच्छानीय है। प्रस्तावना आदि में जिनेश्वर भगवान के प्रति जो आदर वचन है, वे हमारे लिये स्वाभाविक हैं परन्तु जैनेतरों को इसमें स्वमत प्रचार की गन्ध आना सम्भव है। इसलिये पुट्ठों तथा अर्पण पत्रिका में व्यक्त किये गये आपके हेतु के लिये ये कुछ बाधक हो, ऐसा सम्भव है। नई आवृत्ति में इसको और पुठ्ठे पर की (रूढ़ जैन साम्प्रदायिक ढङ्ग की) विगत को उचित लगे तो कम करना।

अनुकूलता हो तो अब स्याद्वाद के ऊपर २००, ३००, ४०० पृष्ठ का एक पुस्तक बन सके उतनी सादी भाषा में उस विषय को जानने वालों के लिये लिखो।

स्ने०

ता० १३-११-५०

विपिन जीवनचन्द झवेरी
गु० प्रो० अलफिन्सटन कालेज, बम्बई

(प्रथम तथा द्वतीय आवृत्ति से उद्धृत)

स्याद्वाद मत समीक्षा पढ़कर आनन्द हुआ। स्याद्वाद सिद्धांत को सभी पक्ष के लोग अपनावें तभी देश का संगठन शक्य हो सकता है, लेखक के इस विचार के साथ मैं सहमत हूँ। कुछ लोग स्याद्वाद को संशयवाद कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह समन्वयवाद है, इस प्रकार का आचार्य आनन्द शंकर का अभिप्राय मुझे मान्य है। योग्य समीक्षा करने वाले को प्रत्येक प्रश्न का निर्णय देते समय ढालकी दोनों वाजू दिखलाई देती हैं। और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने वाले को तो इसकी अनेक बाजू दिखाई देती हैं। इस प्रकार का सम्याग्दर्शन करने वाले, ऐकान्तिक निर्णय नहीं दे सकते, यह सर्वथा स्वाभाविक है। इनको दही–दूधिया कहने वाले भूल करते हैं और अवलोकन करने वाले की न्याय दृष्टि पर अन्याय कर बैठते हैं।

अनेक मतमतान्तरों के वमड में से रहस्य खोज कर सर्वधर्म समभाव और परमत सहिष्णुता सिखाने में स्याद्वाद अत्यन्त महत्व की सेवा बजा सकता है। इस पुस्तक में शुरू किये सिद्धान्त की विशद और सदृष्टान्त समीक्षा लेखक के द्वारा विस्तृत रूप से अनेक प्रकाशनों द्वारा हो, ऐसी अभिलाषा रहती है।

धीरजलाल पारीख,
गु० प्रो० रामनारायण रुइया कॉलेज।

स्याद्वाद क्या है ?

जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों में स्याद्वाद का स्थान महत्व का है। यह स्याद्वाद क्या है ? इसमें दो शब्द हैं। स्यात् और वाद। स्यात् का अर्थ होता है, कथञ्चित, सापेक्ष और वाद का अथ होता है कथन करना। अपेक्षा पूर्वक किसी भी चीज का कथन करना। अर्थात भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से अवलोकन करना, वह है स्याद्-वाद।

हरेक वस्तु को देखने के लिए एक से अधिक दृष्टिकोण होते हैं। साथ ही उन दृष्टिकोणों से वस्तु सत्य हो, बैसा जो वाद है उसे कहते हैं स्याद्वाद।

हरेक वस्तु अनन्त–धर्मात्मक होती है, अतः किसी भी एक दृष्टिकोण से निश्चित किया हुआ विधान एकांत (Absolute) सत्य कैसे माना जा सकता है ? अतः प्रत्येक पदार्थ में अलग अलग अपेक्षा से, भिन्न भिन्न धर्मों का स्वीकार करना – एक ही वस्तु में देखे जाने वाले विरुद्ध धर्मों का सापेक्षरित्या स्वीकार करना, उसका नाम है, स्याद्वाद। उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति पिता की अपेक्षा से पुत्र है और पुत्र की अपेक्षा से पिता। चाचा की अपेक्षा से भतीजा और भतीजा की अपेक्षा से चाचा। यह सम्पूर्ण सत्य है। पिता–पुत्र, चाचा–भतीजा यह विरोधी धर्म होते हुयेभी भिन्नभिन्न अपेक्षा से सत्य हैं। यह विरोधी देखी जाने वाली बातों को भी अपेक्षा पूर्वक स्वीकार करना, यह बात हमको स्याद्वाद सिखलाता है।

स्याद्-वाद एक दृष्टि का नाम है, जिसको अनेकान्त दृष्टि भी कहते हैं। यह दृष्टि मतमतान्तरों के विरोधों को प्रेमपूर्वक दूर करती है। आपसी वैमनस्य को दूर करती है और बदले में सङ्गठन बल स्थापित करती है।

"विरोधी देखे जाने वाले विचारों का वास्तविक अविरोध का मूल दिखाने वाला और वैसा करके विचारों का समन्वय कराने वाला शास्त्र भी, स्याद्-वाद कहलाता है।"

वीतराग के आज्ञानुसार समस्त वचन अपेक्षाकृत होते हैं। संसार में छः द्रव्य माने जाते हैं। सभी द्रव्य उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (नाश) और ध्रौव्य (स्थिति) युक्त हैं। अर्थात वे सभी द्रव्य अपने मूल स्वभाव से नित्य (ध्रुव) हैं तथा भिन्न भिन्न अवस्थाओं की अपेक्षा से वे अनित्य भी हैं। अर्थात् उत्पत्ति और विनाश होता है। उदाहरण देखिये। एक सुवर्ण की माला को गला कर उसकी चूड़ी बनाई, उसमें माला का नाश हुआ, चूड़ी की उत्पत्ति हुई और दोनों अवस्था में सुवर्ण कायम रहा। आत्मा किसी गति से मनुष्य भव से आया परन्तु जिस गति से आया उस गति का नाश हुआ। मनुष्य भव की उत्पत्ति हुई और आत्मद्रव्य जो दोनों में था, कायम रहा।

इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध देखे जाने वाले, नित्य अनित्य धर्म, सापेक्षरीत्या सत्य हैं। इसी प्रकार दूसरे द्रव्य भी सापेक्षता पूर्वक उत्पत्ति, स्थिति और विनाश स्वभाव वाले समझने चाहिये।

१-नोटः-पं० सुखलाल जी के तत्त्वार्थ सूत्र का प्रथम अध्याय, पृष्ठ ६४।

कोई भी द्रव्य एकान्त दृष्टि से निरपेक्ष उत्पन्न नहीं होता। नाश भी नहीं होता तथा ध्रुव भी नहीं रहता। इस प्रकार किसी भी वस्तु का अस्तित्व अपने अपने द्रव्य क्षेत्र और काल भाव से हैं। परन्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, और परभाव की अपेक्षा से नहीं है। इस प्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व, सत्य और असत्य आदि अनेक धर्मों का एक ही वस्तु में सापेक्षरीत्या स्वीकार करना, उसको स्याद्वाद कहते हैं।

वस्तु का सत्-असत् वाद भी स्याद्वाद है। परन्तु सत्य क्यों कहा जाता है? यह अभी विचारणीय है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अपने गुणों से—अपने धर्मों से हरेक वस्तु सत्य हो सकती है। दूसरे के गुणों से, दूसरे के धर्मों से कोई भी वस्तु सत्य नहीं हो सकती। उसकी अपेक्षा वह असत्य है। धनवान मनुष्य अपने धन से ही धनवान कहा जाता है, दूसरे के धन से नहीं। पिता अपने ही पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अन्य के पुत्र की अपेक्षा से नहीं। इसी प्रकार सत् और असत्य भी समझा जा सकता है। लेखन किंवा वक्तृत्वशक्ति नहीं रखने वाला, ऐसा कहता है कि "मैं लेखक नहीं अथवा मैं वक्ता नहीं।" इस शब्द प्रयोग में "मैं" भी कहा जाता है, वह उचित है। क्यों कि "मैं" स्वयं सत्य और मुझमें लेखन या वक्तृत्व शक्ति नहीं होने से उस शक्ति रूप में "मैं" नहीं हूँ।

इसप्रकार के उदाहरणों से समझा जा सकता है कि "सत्य" भी अपने जो सत्य "सत्य" नहीं है, उसकी अपेक्षा से "असत्य" कहा जाता है। इसप्रकार अपेक्षा दृष्टि से एक ही वस्तु में "सत्य" और "असत्य" घटाया जा सकता है। वही 'स्याद्वाद' है।

इस सिद्धान्त के प्ररूपक श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी स्वयं हैं। "उत्तर-हिन्दुस्तान में जैन-धर्म", इस पुस्तक के

लेखक श्री चिमनलाल जयचन्दशाह एम० ए० ने पुस्तक के ५३ पृष्ठ में इस प्रकार लिखा है :-

"संजय बेलट्ठि पुत्र कहता है कि 'जो है वह मैं कह नहीं सकता – और वह नहीं है, ऐसा भी मैं नहीं कह सकता।' किन्तु महावीर कहते हैं कि मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से वस्तु है और यह भी कह सकता हूँ कि अमुक दृष्टि से वह नहीं है।"

संक्षिप्त में कहा जाय तो स्याद्वाद यह जैन तत्वज्ञान का अद्वितीय लक्षण है। जैन बुद्धिमत्ता का इससे विशेष सुन्दर शुद्ध और विस्तीर्ण दृष्टान्त दूसरा क्या दिया जा सकता है। इस सिद्धान्त की खोज का मान जैन–दर्शन को प्राप्त होता है।

जैन दृष्टि से कोई भी वस्तु एकान्त नहीं है। क्यों कि वस्तु मात्र अनेक धर्मात्मक है। तथा भिन्न-भिन्न अपेक्षा से उसमें भिन्न भिन्न धर्म रहे हैं। उदाहरण के तौर पर मिट्टी की अपेक्षा से घट नित्य है, पर्याय (परिवर्तित) की अपेक्षा से अनित्य है। रङ्ग की अपेक्षा से लाल है, आकार की अपेक्षा से गोल है। इस प्रकार अपेक्षा दृष्टि से हरेक वस्तु में गुण धर्म रहे हुये हैं।

स्याद्वादी कौन हो सकता है ?

जो सच्चा स्याद्वादी होता है वह सहिष्णु होता है। वह अपने खुद के आन्तरिक आत्मविकारों पर विजय प्राप्त करता है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरों के सिद्धान्तों पर भी सापेक्ष-चिन्तक होने से, सम्मान की दृष्टि से देखता है। तथा मध्यस्थ भाव से सम्पूर्ण विरोधों का समन्वय करता है। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने वेद, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और बौद्ध आदि दर्शनों पर द्वात्रिंशिका

की रचना की है और १४४४ ग्रन्थों के रचयिता महा प्रखर ज्ञानी श्री हरिभद्र सूरि जी महाराज ने 'षट्-दर्शन समुच्चय' में दर्शनों की निष्पक्ष समालोचना करके अपनी उदार वृत्ति का परिचय कराया है। इसके अतिरिक्त श्री मल्लवादि, श्री हरिभद्र सूरि, पण्डित श्री आशाधर राजशेखर तथा महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी आदि अनेक जैन गीतार्थों ने वैदिक एवं बौद्ध धम ग्रन्थों पर टिका-टिप्पणी आदि लिखकर अपनी गुण-ग्राहिता समन्वय वृत्ति और हृदय की विशालता का स्पष्ट-रित्या परिचय कराया है। इससे स्पष्ट होता है कि स्याद्वादी में हृदय की विशालता होती है, गुण-ग्राहिता होती है और मैत्री की अभिलाषा।

दर्शनों की समालोचना करने से प्रकट होता है कि अमुक दर्शन, अमुक नय को स्पर्श करता है, और अमुक दर्शन अमुक नय को। जिससे सम्पूर्ण दर्शन नयसमुहात्मक स्याद्वाद में गर्भितरीत्या रहे हुये हैं। स्याद्वादी हमेशा सत्यावलम्बी होता है। वह एकान्त मार्गी की तरह संकुचित मनोवृत्तिवाला किंवा उत्शृङ्खल मनोवृत्ति वाला नहीं होता है। वह सबके साथ प्रेमपूर्वक समन्वय को साधता है। स्याद्वादी का बोलना हमेशा सापेक्ष (हेतु युक्त) होता है। हेतु तो जगत में अनेक ही विद्यमान हैं, किन्तु उसका वास्तविक बोलना सापेक्ष होता है। निरपेक्ष वचन में केवल संसार-बंधन के सिवा और कुछ नहीं है। जैनों के परम योगी गीताथ श्रीमत् आनन्दघन जी ने एक प्रभु-स्तुति में कहा है—

वचन निरपेक्ष, व्यवहार झूठो कह्यो,
वचन सापेक्ष, व्यवहार साचों ।
वचन निरपेक्ष, व्यवहार संसार फल,
सांभली, आदरी, कांई राचो ।"

इससे स्पष्ट होता है कि सापेक्ष वचन बोलना, यही हित-कारक है। हम सामान्य भाषा में भी कहते है कि "Ask your conscience and then do it." अर्थात् पहिले अपनी आत्मा से पूछो और तब करो।

× × ×

श्री भीखनलाल जी आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्० काशी दर्शनाध्यापक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपने एक लेख में लिखा है: "सत्य और उच्च भाव तथा विचार किसी एक जाति या धर्म वालों के लिये नहीं; बल्कि मनुष्यमात्र का इन पर अधि-कार है। मनुष्य मात्र को अनेकान्तवादी, स्याद्वादी और अहिंसा-वादी होने की आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में भी।

द्वितीय-प्रकरण

स्याद्वाद दूसरे के दृष्टिबिन्दु को (Point of view) दिखाता है

स्याद्वाद का अर्थ पहले ही दिखलाया जा चुका है। "अपेक्षा पूर्वक कथन करना यही स्याद्वाद है।" यह स्याद्वाद दूसरे के दृष्टि बिन्दु को देखने को सिखलाता है।

किसी भी वस्तु के स्पष्टीकरण में दूसरा क्या कहता है? क्यों कहता है? किस दृष्टि से कहता है? यह जानना अत्यावश्यक है। जैसे ढाल की दो बाजुएं होती हैं. वैसे ही हरेक चीज में भिन्न भिन्न दृष्टियों से हम विचार करेंगे, तभी उसकी संपूर्ण सत्यता को प्राप्त कर सकेंगे। दूसरा मनुष्य किस दृष्टि से कह रहा है, उसका संपूर्ण सत्य समझने के सिवाय हम कभी भी समन्वय करने के लिये शक्तिशाली नहीं हो सकते। महात्मा गांधी जी ने स्याद्वाद के सम्बन्ध में कहा है:—"जब मैंने जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त को सीखा, तभी मुसलमानों को मुसलमान की दृष्टि से और पारसियों को उनकी दृष्टि से देखना सीखा है।" इससे सत्य-प्रिय व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि हम किसी वस्तु विशेष के विषय में बोलते है और दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के विषय में किसी अपेक्षा से विरुद्ध बोलता है, तो उस

नोट—एक पाश्चात्य विद्वान् कहता है—"Key to know man is his thoughts".

समय क्रोध नहीं करते हुये शांत चित्त से उसके दृष्टिकोण को देखने का यत्न करना चाहिये। जिससे सत्य वस्तु स्वतः मालूम हो जावेगी। इतना ही नहीं, सामने वाले के साथ समन्वय भी सिद्ध होगा। स्याद्वादी कभी भी अपनी धीरता को नहीं खोता है। किन्तु बुद्धिगम्य रीति से सामने वाले का दृष्टिबिन्दु सोचता है तथा इसके पश्चात् ही वह, उस वस्तु का निर्णय करता है।

स्याद्वादी और न्यायाधीश दोनों एक समान माने जा सकते हैं। जैसे न्यायाधीश वादी तथा प्रतिवादी के बयान सुनकर दोनों के दृष्टिकोण को समझने के बाद केस (मामले) का फैसला देता है। उसी प्रकार स्याद्वादी भी विरोधियों के दृष्टिकोण को देखकर उसमें से तत्व निकाल कर वस्तु स्थिति का निर्णय करता है। साथ ही समन्वय भी करता है। जिससे न्यायधीश से भी स्याद्वादी एक कदम आगे बढ़ता है।

अत: इसी हेतु छः अन्धे और एक हाथी का उदाहरण अनुपम है जो इसके साथ दिया गया है। बात यह है कि किसी समय छः अंधे एक हाथी के पास गये। उनमें जिसके हाथ में हाथी का पैर आया उसने कहा, हाथी खम्भा के समान होता है। जिसके हाथ में कान आया उसने कहा, हाथी सूप के जैसा होता है। जिसके हाथ में सूंढ आया, उसने उसे मूसल का रूप दिया। जिसने पेट पर हाथ फेरा उसने कहा, हाथी मशक का सा होता है। जिसके हाथ में दांत आया, उसने कहा, हाथी धनुषाकार होता है और जिसके हाथ में पूंछ आई उसने हाथी को रस्सी के आकार जैसा कहा। परिणामतः सभी लोग आपस में झगड़ा करने लगे। उस समय उनके पास एक देखनेवाला आया। उसने सभी को वाद-विवाद करते हुए देख कहा कि, आप लोग झगड़ा न करें। आप

सभी अपनी अपनी दृष्टि से सच्चे हैं। क्यों कि आप लोगों में से जिसने हाथी के जिस जिस भाग को स्पर्श किया है, उसी भाग को आप हाथी समझ रहे हैं। किन्तु हाथी के बहुत से अंश हैं। जब तक उन सभी अंशों का स्पर्श न करें, तब तक संपूर्ण हाथी की आकृति नहीं समझ सकते। बात उन लोगों की समझ में आ गई तथा उनके मतभेद दूर हुए।

सारांश यह है कि, बोलने वाला किस दृष्टि से बोलता है, उसके दृष्टिकोण को देखना चाहिये। इससे बुद्धि का भी विकास होता है और वस्तु की वास्तविकता को भी हम प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी वस्तु को तत्वत: जानने के लिए, उसके संभावित सभी अंशों को देखना चाहिये। स्याद्वाद दृष्टि, जिसको अनेकान्त दृष्टि भी कहा जाता है, वह वस्तु के समस्त धर्मों का अवलोकन करती है और भिन्न अपेक्षा से समस्त वस्तु को देखती है। तत्-पश्चात् वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण करती है।

स्याद्वादी हमेशा दूसरे की अपेक्षावृत्ति को देखता है। बाद में अबाधित रीति से उसका समन्वय करने का प्रयत्न करता है। अन्य विभिन्न दृष्टियों के द्वारा सत्य समन्वय करके, विरुद्ध देखे जाने वाले मतों का समुचित रीति से संगति कराता है। स्याद्वाद का यही परम रहस्य है। यह बात निम्नलिखित कार्य-कारण भाव से विशेष स्पष्ट हो जायेगी।

❀कार्य-कारण के विषय में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण विद्यमान तथा प्रचलित हैं। बौद्ध तथा वैशेषिक दर्शन भेदवादी हैं। उससे वे कार्य-कारण को भिन्न-भिन्न मानते हैं। इससे वे "असत्"

❀यह विषय सम्मति प्रकरण (पं० सुखलाल जी वाला के तृतीय काण्ड, गाथा ५०।५२ पृ० ८७ से उद्धृत है।)

अर्थात् उत्पत्ति के पहले, कारण में नहीं, ऐसे कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। सांख्य अभेदवादी हैं। इससे वे कार्य और कारण को अभिन्न मानते हैं। तथा इससे वे "सत्" अर्थात् उत्पत्ति के पहले भी कारण में विद्यमान, ऐसे कार्य की उत्पत्ति बतलाते हैं। बौद्ध भी असत् में से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इससे बौद्ध और वैशेषिक अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये, सांख्यों का दोष निकालकर उसे कहते हैं—"यदि कारण में उत्पत्ति के पहले भी कार्य "सत्" - विद्यमान हो तो उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। वैसे ही उत्पत्ति के पहले भी सत् होने से कारण में कार्य दिखना चाहिये। और कार्य सापेक्ष, सभी क्रियायें और सभी व्यवहार कार्य का उत्पत्ति के पहले भी होना चाहिये।"

इसी प्रकार सांख्य भी अपने पक्ष की स्थापना करने के लिये वैशेषिक और बौद्धों के ऊपर दोष रखते हुये कहता है कि 'अगर असत् कार्य की उत्पत्ति होती हो तो, मनुष्य को सींग क्यों नहीं आते ?"

ये दोनों दृष्टियां, एक दूसरे को जो दोष देती हैं, वे सभी सच्चे हैं। क्यों कि उनका दृष्टिकोण एकाङ्गी होने से दूसरी तरफ नहीं देखते हैं। इस न्यूनता के कारण, स्वाभाविक रीत्या उसमें दोष आता है, किन्तु ये दृष्टिकोण, समन्वय पूर्वक यदि जमाए जायें तो एकदूसरे में जो न्यूनता है वह दूर हो जायगी। साथ ही वह पूर्ण भी बन जायगी।

स्याद्वाद दृष्टि उसके समाधान में यह कहती है कि जैसे कार्य और कारण भिन्न हैं, वैसे ही अभिन्न भी हैं। भिन्न होने से उत्पत्ति होने के पहले कार्य असत् है तथा अभिन्न होने से सत् भी है। वह सत्य, सत्य की अपेक्षा से है, अर्थात् उत्पत्ति के लिये प्रयत्न की

अपेक्षा रहती है। इसी से उत्पत्ति के लिये अव्यक्त दशा में व्यक्त कार्य सापेक्ष व्यवहार संभवित नहीं। इसी प्रकार "असत्" है, वह उत्पत्ति की अपेक्षा से। शक्ति की अपेक्षा से तो कार्य सत् ही है। अतः प्रत्येक कारण में से, कार्य की उत्पत्ति को यदि 'मनुष्य-शृङ्ग' जैसी अत्यन्त असत् वस्तु की उत्पत्ति का अवकाश ही नहीं। जिस कारण में जो कार्य प्रकटाने की शक्ति होती है, उसी में से प्रयत्न होने पर वह कार्य प्रकट होता है, दूसरा नहीं। साथ ही शक्ति भी नहीं, ऐसा भी नहीं। इस प्रकार "सत्" और "असत्" वाद का समन्वय होने पर ही, दृष्टि पूर्ण और शुद्ध होती है। उसमें से दोष निकल जाते हैं। अनेकान्त दृष्टि से घट रूप कार्य इस पृथ्वी रूप कारण से अभिन्न और भिन्न फलित होता है। अभिन्न इसलिये कि मिट्टी में घड़ा पैदा करने की शक्ति है, घड़ा बनने पर भी वह बिना मिट्टी का नहीं होता। भिन्न इसलिये है कि उत्पत्ति के पहले मिट्टी ही थी। घड़े की आकृति अदृश्य थी। इसी से घड़े से होने वाला संभवित कार्य भी संभव नहीं था, यानी नहीं होता था।

अतः "स्याद्वाद" दृष्टि की व्यापकता, महत्ता तथा उपयोगिता है। इसी दृष्टि से मत-संघर्षण और परस्पर का वैमनस्य शांत किया जा सकता है। अशांति के स्थान पर शांति स्थापित हो सकती है। जगत के बहुत से मतभेद सम्भवित हैं, परन्तु उसमें भी यदि सामने वाले का दृष्टिबिन्दु देखकर बर्ताव किया जाय, तो उससे बहुत से क्लेश कम हो सकते हैं और सबके साथ समन्वय की साधना हो सकती है।

प्रत्येक घर, कुटुम्ब, समाज, संप्रदाय अगर इस सिद्धांत को अपनायें तो बहुत उत्कर्ष हो सकता है। संसार में परस्पर वैमनस्य का मूल ही मतभेद है। जहां मतभेद है, वहां विरोध

है। जहां विरोध है, वहां अशांति है। समन्वय पूर्वक जो कार्य किया जाता है उसमें शांति ही है। और "स्याद्वाद" दृष्टि का मुख्यतया यही कार्य है कि विरोधी तत्वों से अविरोधी मूल खोज कर समन्वय कराना।

राजनीतिज्ञ पुरुष भी शासन चलाने में, प्रजा के मानस को पहचान कर विरोध करने वालों के दृष्टिकोण को देखकर और पूर्ण विचार कर यदि राज शासन करे तो उससे राज्य और प्रजा दोनों में शांति रह सकती है।

"स्याद्वादी" अहंभावी अभिमानी और दम्भी नहीं हो सकता। उसको तो न्याय और नीति का ही अवलम्बन रहता है।

पंच, पंचायत, महाजन, सहकारी मंडल ये सभी राज्य के संगठन बल के प्रेरक हैं और हैं शांति के स्वरूप भी। यदि वे विधानपूर्वक व्यवस्थित रीति से चलें तो प्रजा का उत्कर्ष बहुत ही हो सकता है। झगड़ों के प्रसंग कम होंगे। साथ ही प्रजा का अपार द्रव्य कोर्टों के द्वारा जो नष्ट होता है, वह बच सकता है। परस्पर के वैमनस्य कम हो सकता है और सभी प्रेम भाव से रह सकते हैं। सरकार की ओर से J.P. (Justice of Peace) बनाये जाते हैं, उनका भी यही ध्येय है।

स्व-दृष्टि-बिन्दु

ऊपर जो लिखा गया है वह सामने का दृष्टिबिन्दु देखने के सम्बन्ध में हैं। किन्तु उसके साथ ही साथ हमें अपना भी दृष्टि-बिन्दु देखना चाहिए। हम जगत में क्या देख रहे हैं? दृष्टि वैसी सृष्टि। जैसा भी हमारा दृष्टिकोण होगा, वैसे ही पदार्थ हमें प्रति-भासित होते हैं। शुद्ध नेत्र वाला मनुष्य सफेद को सफेद

देखता है। किन्तु पीलिया हो जाने पर उसे सफेद वस्तु भी पीली दीखती है। अतः जीवन पथ को विकसित करने में दृष्टि की प्रधानता है। मनुष्य की दृष्टि निर्मल. निष्पापी. निर्लोभी, निरागी, निराभिमानी, निःसंग और निःस्वार्थ होती है, तब वह प्रतिभाशाली हो सकता है। और सामने वाले मनुष्य पर उसका प्रभाव पड़ता है। जिसका दृष्टिकोण पापी, विकारी, अविचारी, क्रोधान्वेषी आदि दुर्गुणों से भरा रहता है, वह स्वपर-हानि कारक है। अतः जीवन पथ को उज्ज्वल बनाने का सबसे अच्छा मार्ग यही है कि अपने दृष्टिकोण को शुद्ध रक्खे और सुन्दर बनाये।

इसके लिए 'गुणानुराग कुलक" ग्रन्थ का अभ्यास करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त आठ दृष्टि की "सज्जाय" यह भी उपयुक्त ग्रन्थ है। दुज का चांद जैसे प्रकाश में बढ़ता-बढ़ता अन्त में पूर्णिमा तक पहुँच कर पूर्ण प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार प्रथम दृष्टिसे आत्म प्रकाश प्रारंभ होकर बढ़ते बढ़ते आठवां दृष्टि में सम्पूर्ण आत्म प्रकाश होता है। इसलिए जिनको अध्यात्म दृष्टि का विकास करना हो उन्हें इन आठ दृष्टियों का पूर्ण अभ्यास, मनन और निदिध्यासन एक चित्त से करना चाहिए। उन आठ दृष्टियों के नाम ये हैं—

१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. विप्रा, ५. स्थिरा ६. कामता, ७. प्रभा, तथा ८. परा।

—दृष्टि बिन्दु पर आध्यात्म भावना—

हे आत्मन्! तू जगत के मनुष्यों के दृष्टिबिन्दु को देखने के पहले, अपने खुद के दृष्टि-विन्दु को देख कि मैं कहां खड़ा हूँ? क्या कर रहा हूँ, कहां से आया हूँ तथा कहां जाने वाला हूँ तथा

मेरा क्या होने वाला है ? इत्यादि बातों का विचार कर *"मधु बिन्दु" का उदाहरण दृष्टि-पथ में रख ! तू अपनी आत्मा का कल्याण कर।

---

*जीवन रूपी एक वृक्ष है। उस वृक्ष की आयुषरूपी शाखा को दो हाथों से पकड़ कर एक सांसारिक मनुष्य लटक रहा है। इस शाखा को आगे से, दिन रूपी एक सफेद चूहा और पीछे से रात्रि रूपी काला चूहा काट रहा है। इस शाखा के ऊपर संसार की वासना रूपी एक "मधु का छत्ता" लगा हुआ है। उसमें से मधु झरता है, उसी को चाटता है। और उस मधु-बिन्दु के स्वाद में, अर्थात् विषयों की वासना में वह आसक्त रहता है। नीचे नरक रूपी एक गहरा कुंआ है। उसमें क्रोध, मान, माया तथा लोभ के रूप में साँप अजगर मुंह फाड़कर बैठे हैं। लेकिन विषय वासना में लिप्त मनुष्य उनको नहीं देखता है।

तीसरा प्रकरण

"स्याद्वाद" व्यक्ति विशिष्टता प्रकट करता है।

अर्पितानर्पित सिद्धेः ॥
(तत्वार्थाधिगमसूत्र) ।

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। क्योंकि अर्पित अर्थात् अपेक्षा से तथा अनर्पित अर्थात् दूसरी अपेक्षा से विरुद्ध—स्वरूप सिद्ध होता है।

आत्मा "सत्" है। ऐसी प्रतीति में जो सत् का भान होता है, वह सभी तरह से घटित नहीं होता है। और यदि ऐसा हो तो आत्मा स्वरूप की तरह घटादि रूप से भी सत् सिद्ध हो जाय। अर्थात् उसमें चेतना की तरह घटत्व भी भासमान हो जाय। इससे उसका जो विशिष्ट स्वरूप है, वह सिद्ध नहीं हो सकता। विशिष्ट स्वरूप का अर्थ ही यह है कि वह स्वरूप से "सत्" और पर रूप से "असत्"। प्रत्येक पदार्थ को "अस्ति" और "नास्ति" से अवलोकन किया जाय तो हरेक पदार्थ का व्यक्तिविशिष्टपन मालूम हो सकता है। इसके सिवाय कभी भी व्यक्तिविशिष्ट-पन ज्ञात नहीं हो सकता। "अस्ति" का अर्थ यह है कि वस्तु मात्र अपने स्वरूप से सत् है और "नास्ति" का अर्थ है कि वस्तु मात्र पर स्वरूप से "असत्" है। इससे समझने

का यह है कि वस्तु मात्र अपने रूप से ही "सत्" है। तथा उसमें उसके अतिरिक्त दुनियां के सभी चीजों का "नास्ति-पना" अर्थात् "असत्-पना" है। उदाहरण के तौर पर देवदत्त बड़ा है। अब यदि "अस्ति" नास्ति से यानी "सत्" और "असत्" से उसको देखा न जाय तो उसके जैसे दूसरे बहुत से मनुष्य जो बड़े हैं, उनका उसमें समावेश होता है। और इससे देवदत्त का व्यक्ति-विशिष्टपन सिद्ध नहीं होता है। परन्तु जब वस्तु को अपने स्वरूप में 'सत्" और पर रूप में "असत्" माना जाय तभी उसका व्यक्तिविशिष्टपन सिद्ध होता है। पहले आत्मा के उदाहरण से भी यह बात समझाई गई है।

अब, जब मनुष्य को ऐसा ज्ञात हो कि मैं व्यक्ति विशिष्ट हूँ तो उसको मालूम होता है कि मैं भी कुछ हूँ। मैं बुजदिल, नामर्द या निकम्मा नहीं हूँ। बल्कि मैं भी बड़ा होनेके लिए सृजित हुआ हूँ।" इस भावना से उसके दिल में आगे बढ़ने की इच्छा, हिम्मत और साहस होता है। मानवता भी जागृत होती है तथा वह सदा उद्यमी और जागृत रहता है। अन्य वस्तुओं में भी वैसा ही है। घड़ी के एक छोटे और एक बड़े दोनों चक्रों को लीजिए। छोटी घड़ी के लिये, छोटा चक्र उपयोगी होता है तथा बड़ी घड़ी के लिए बड़ा चक्र। छोटी घड़ी के लिए बड़ा चक्र निकम्मा होता है तथा बड़ी घड़ी के लिए छोटा चक्र। अर्थात् सब अपने अपने स्थान में विशिष्ट हैं। राजा ग्राम का मालिक है और भिखारी अपनी झोपड़ी का। इसी प्रकार मनुष्य अपनी किसी भी महत्वाकांक्षा को समझता है, तभी वह पराक्रमी, उद्यमशील और प्रगतिशील होता है। और उससे उसके आदर्श भी दिन प्रतिदिन उर्ध्व दिशा में गमन करते हैं।

एक समय बड़ौदा के स्वर्गीय श्री महाराज सयाजीराव ने विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देते हुये कहा था: "तुम लोगों ने तुम्हारे आदर्श हमेशा उच्च रखने चाहिये। तुम आकाश की ओर देखकर तीर लगाओगे तो वह एक झाड़ तक ही ऊँचा जायेगा। झाड़ के सामने निशाना लगा कर तीर चलाओगे तो उससे भी कम जायेगा।" इस पर यह समझने का है कि जिनको आगे बढ़ने की उम्मीद-तमन्ना है, उन्हें तो सदा आगे बढ़ने की ही महत्वाकांक्षा रखनी चाहिए। महत्वाकांक्षियों का जन्म ही विजय के लिए होता है और इन्हीं को विजय की माला वरती है।

स्याद्वाद का सिद्धांत भी मनुष्य मात्र को व्यक्ति-विशिष्ट बना देता है। इससे मनुष्य कर्तव्यशील होता है तथा उसकी आन्तरिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। वही उसे हरेक कार्य में उत्साहित बनाता है। एक स्त्री कहती है कि मैं दासी हूँ। इस भावना से वह कभी रानी नहीं हो सकती। किन्तु मैं भी रानी क्यों न बनूं? ऐसी विशिष्ट भावना रखने वाली स्त्री कभी रानी बन सकती है। कदाचित् रानी न भी बने तो भी दासी से तो उच्च स्थान अवश्य ही प्राप्त करेगी। तात्पर्य यह है कि हरेक मनुष्य अपने मन में ऐसा धारे कि मैं भी कुछ हूँ और यही उसके आगे बढ़ने का श्रेयस्कर मार्ग है। यही मार्ग "स्याद्वाद" सिद्धांत सिखलाता है। बुजदिल, हत् वीर्य्य, पुरुषार्थहीन मनुष्यों के लिए तो जगत में कोई स्थान ही नहीं, यानि (might is right) जिसकी लाठी उसकी भैंस।

(२) वस्तु एक होने पर अनेक रूप हैं:—

॥ अर्पितानर्पित सिद्धे: ॥ (दूसरी तरह से)

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥"

तथा "एको भावः सर्वथा येन दृष्टः।
सर्वे भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः।
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥"

("स्याद्वाद" मंजरी पृष्ठ १४ से)

भावोद्घाटन

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत होने से वह भाव और अभाव रूप भी है।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है और पर रूप से अविद्यमान है। इतना होने पर भी वस्तु को यदि सर्वथा भावरूप माना जाय तो एक वस्तु के सद्भाव में संपूर्ण वस्तुओं का सद्भाव मानना पड़ेगा, तथा कोई भी वस्तु अपनें स्वभाव वाली नहीं मालूम होगी। और वस्तु का यदि सर्वथा अभाव माना जायेगा तो वस्तुओं को सर्वथा स्वभाव रहित मानना पड़ेगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि "घट में उसको छोड़ कर सभी वस्तुओं का अभाव मानने से घट अनेक रूप सिद्ध होगा।"

इससे सिद्ध होता है कि एक पदार्थ का ज्ञान करने के साथ दूसरे पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि वह उससे भिन्न, दूसरे सभी पदार्थों की व्यावृत्ति (अभाव) नहीं कर सकता है।

आगमों में भी कहा है कि, "जो एक को जानता है वह सब को जानता है और सभी को जानता है वह एक का

जानता है।' वैसे ही जिसने एक पदार्थ को संपूर्ण रीति से जान लिया है, उसने सब पदार्थों को, सभी प्रकार से जाना है। साथ ही जिसने सब पदार्थों को सभी रीति से जाना है, वह एक पदार्थ को सभी रीति से जानता है।

अजैन दर्शन में एक जगह कहा है कि श्वेतकेतु को उसके पिता आरुणी ने कहा था कि मिट्टी के एक पीड को जनने से, मिट्टी की बना हुई सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है। यह बात भी इस सिद्धांत को पुष्ट करती है।

× × × ×

व्यक्ति विशिष्ट पर अध्यात्म भावना

हे आत्मन्! तू अनन्त ज्ञान, दर्शन, अनन्त चरित्र और अनन्त वीर्य्यवान है। जिससे तेरी शक्ति सामर्थ्य तुझे दस दृष्टांतों से दुर्लभ ऐसे इस मनुष्य भाव को सार्थक करने के लिये लगा! और मिले हुए रत्नचिन्तामणि जैसे धर्म को कांच का टुकड़ा समझ कर फेंक न दे।

प्रकरण—४

स्याद्वाद वस्तु का अनेक धर्मात्मकपना बताता है।

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, ऐसा स्याद्वाद बताता है। इससे विज्ञान को विशेष पुष्टि मिलती है। यद्यपि, भगवान महावीर के सिद्धांतों का मुख्य आदर्श जो इस असार संसार का त्याग करके मुक्ति मार्ग की तरफ प्रयास कराने का है, फिर भी यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो वह व्यवहारिक रीति से भी जगत का कल्याण कारक हो सकता है। यह निःशंक तथा निर्विवाद है। वस्तु मात्र अनेक धर्मात्मक है। उदाहरणार्थ, एक ही मनुष्य अपने भाजे की अपेक्षा से मामा है, अपने दामाद की अपेक्षा से श्वसुर भी है।

एक हाथी जैसे प्राणी को भी अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है। उसके गंडस्थल से मद झरता हुआ जब मनुष्य देखता है, तब उसे मतंगज कहते हैं। हाथी को मुख तथा सुंड से पानी पीते देख उसको द्वीप कहते हैं। उसके आगे के विशाल दांतों को देख दन्ती कहते हैं। सुण्ड से सभी काम करता है, उस सुण्ड को हाथ समझ कर लोग हस्ती कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से देखा जाय तो प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहे हुये हैं, यह बात स्पष्ट समझ में आ जायगी। एक ही गेहूँ की रोटी भी बनती है, पाउं भी बनता है, घेवर, पुरी यानी कई चीजें बनाई जा सकती हैं। गेहूं में इस प्रकार की अनन्त धर्मात्मक शक्ति नहीं होती तो ऐसा न बनता।

वर्तमान समय के विज्ञानी (वैज्ञानिक) जो आगे बढ़े हैं यह उनकी रसायन और संशोधन का परिणाम है। अभी भी वे जैसे जैसे आगे बढ़ते जायेंगे, वैसे वैसे उनको कुछ न कुछ नवीनता प्राप्त होगी। क्यों कि वस्तु मात्र ही अनेक धर्मात्मक है। संसार में कोई भी चीज अशक्य नहीं है। "Man can do whatever he likes." नेपोलियन के शब्दों में कहा जाय तो "Impossible word is not found in the Dictionary of the word" जगदीशचन्द्र बसु ने जब वनस्पति में जीव का होना सिद्ध किया, तब उस विषय के अज्ञात देशवासियों को बहुत आश्चर्य हुआ। जैन दर्शन में तो छोटे बच्चों को मूल से ही यह सिखलाया जाता है कि पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु और अग्नि ये एकेन्द्रीय जीव हैं। उनको स्थावर जीव कहते हैं। तथा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रीय, चतुर्थेन्द्रीय और पंच इन्द्रीय को त्रस (जो चलने फिरने की क्रिया करें) कहते हैं। इस विषय का सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णन 'जैन जीवन शास्त्र" में दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि डा० जगदीशचन्द्र बोस एक प्रखर वैज्ञानिक थे। उन्होंने (Practical) रचनात्मक रूप से सिद्ध कर दिखाया, वह उनके अद्भुत वैज्ञानिक ज्ञान का प्रमाण है।

स्वर्ण, चांदी आदि वैसे देखा जाय तो आभूषण बनाने के कार्य में आते हैं, किन्तु वैद्य लोग जब उस पर रासायनिक प्रयोग करके, उसका भस्म करते हैं तब उससे हजारों दर्द दूर होते हैं तथा मनुष्य को शक्ति प्राप्त होती है। पानी स्वभाव से फीका है, किन्तु उसमें जब शक्कर डाली जाय तो मीठा होता है। नीबू मिलाया जाय तो खट्टा लगता है, अफीम डाला जाय तो कटु हो जाता है। पानी को पीली बोतल में डाला जाय तो पीला। लाल बोतल में डाला जाय तो लाल दिखेगा। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु

में अपेक्षा दृष्टि से अनेक धर्म रहे हुये हैं। जिस अपेक्षा से हम वस्तु को देखेंगे वह वैसी ही दिखेगी।

अभी अभी वैज्ञानिकों ने 'एटम बम' की खोज की है, किन्तु वह हिंसात्मक पापवृत्ति को देने वाली है। उसके स्थान में उससे रक्षण कैसे हो, ऐसा सोचकर देश को आबोहवा कैसे सुधरे प्रजा की तनदुरुस्ती कैसे बढ़े, मानव समाज में चेतनता कैसे, आवे ? ऐसे बाण यदि वैज्ञानिक बनवें तो बनाने वाले का और प्रजा का भी कल्याण हो। हिंसात्मक प्रयोगों से किसी का भी जय नहीं हुआ है तथा होने वाला भी नहीं ! कदाचित विजय दिखे भी तो वह चार दिन चाँदनो के जैसा है। अन्त में धर्म से जय और पाप से क्षय होने का है। इसलिये आज ससार में मृत्यु देने वाले प्रयोगों को नहीं करते हुये, बचाने के रक्षणात्मक प्रयोगों का करना ही श्रेयष्कर है।

विज्ञानी जैसा अहर्निश विज्ञान में मस्त रहते हैं, वैसे अरविन्द घोष और उनके जैसे अन्य आध्यात्मिक आत्मार्थी, ऋषि, महर्षि, मुनिराज, सन्त हमेशा आत्मा की खोज में मस्त रहते आये हैं। जैसे अन्य वस्तुएँ अनेक धर्मात्मक हैं, वैसे आत्मा भी अनन्त गुणात्मक है। और इसी से आत्मा से ओत-प्रोत रहने वाले दान, दया, तप, भाव, सुश्रुषा, समता, आर्द्रता, सत्यता, मृदुलता, सरलता, न्याय-निपुणता आदि गुण प्रकट करने के लिए मुमुक्षु लोग हमेशा तत्पर रहते हैं। "आत्म-बल" के आगे पशु-बल और आत्म-लक्ष्मी के आगे भौतिक-लक्ष्मी तुच्छ मात्र है। स्वामी रामतीर्थ एक समय हिमालय पर गये थे। उस समय बर्फ इतना गिरा कि वे गले तक बर्फसे ढंकगये। तथा देख नितांत मृत्यु की नोक पर आये। उस समय आकाश के सामने कर वे बोले, Stop. (बन्द हो जाओ)। उसी समय बर्फ बिखर गया

और सूर्य की किरणों निवान्त तथा बादल तिरोहित हो गये। अब विचार किया जाय कि इसके सामने जर्मनी की "होवी जीटर" तोप क्या चीज है? यह आत्म-बल नहीं तो और क्या चीज है?

मुट्ठी भर हड्डी वाले देशवत्सल महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्य, कि जिसके राज्य में सूर्यास्त नहीं होता, कहा जाता था, उसको भी किस प्रकार महात किया। यह आत्म-बल के सिवा दूसरा क्या हो सकता है?

अत: भवाटवी में भूले नहीं पड़ते हुए, अपना कल्याण मार्ग कौन सा है, उसकी खोज करना ही सच्चा पुरुषार्थ कहा जाता है।

× × × ×

वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उस पर अध्यात्म भावना -

हे विज्ञानधन आत्मन्!

सांसारिक वैज्ञानिक, जैसे "मरक्युरी" (पारा) तूतिया आदि में से बिजली पैदा करते हैं। वैसे सभी सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक चरित्र द्वारा अपने आत्म-प्रदीप को प्रकट करते हैं।

× × × ×

स्याद्वाद के मत से स्वद्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्व है और पर द्रव्य, काल, भाव की अपेक्षा से नास्तित्व है। जिस अपेक्षा से वस्तु में अस्तित्व है, उसी अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व नहीं है। इससे सप्त भङ्गी नय में विरोध, वैयधिकरण्य अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव, नाम के दोष आ नहीं सकते।

प्रकरण ५

स्याद्वाद वाणी सर्व दृष्टि का समास स्थान है

स्याद्वाद शब्द में स्यात् और वाद ये दोनों शब्द रहे हुए हैं, जिनका अर्थ है कथंचित् कथन करना। इससे स्याद्वाद किसी भी वस्तु के लिये "वस्तु सर्वथा ऐसी ही है," ऐसा नहीं कहता। वह इस प्रकार कथन करता है कि जिससे उनमें से दूसरे की बैठक उड़ नहीं जाती, उसमें दूसरे की बैठक को भी स्थान मिल जाता है। जैसे कि किसी ने कहा कि "घट नित्य है"। तब स्याद्वादी कहता है "स्यादस्ति"। यानी कथंचित् नित्य है। इससे घड़ा जो अनित्य भी है, उसको भी उसमें स्थान मिल जाता है। उसकी बैठक उससे उठ नहीं जाती। इसी प्रकार कोई कहे कि घड़ा अनित्य है, तब स्याद्वादी कहेगा कि 'स्यात्-नास्ति'। कथं-चित् अनित्य है। इससे उसमें से नित्य की भी बैठक उड़ नहीं जाती। किन्तु उसको भी उसमें स्थान मिलता है। तथा घट जो नित्यानित्य है वह उससे प्रमाणित होता है। संसार के सभी पदार्थ मूल रूप से नित्य हैं तथा पर्याय रूप से अनित्य हैं। जीव भी आत्मा रूप से नित्य हैं और देह रूप से अनित्य हैं। घट मिट्टी रूप से नित्य और आकार रूप से अनित्य है। इसी प्रकार सभी पदार्थों के लिए समझना चाहिये।

स्याद्वाद हमेशा एकान्त कथन नहीं करता, किन्तु अनेकान्त वचन उच्चारता है। एकान्त कथन करने में वस्तु में रहे हुए अनेकों दूसरे धर्मों को जानने में एक पर्दा गिर जाता है। एवं उससे बुद्धि का भी नाश होता है। जैसे किसी ने कहा: "घड़ा लाल है" तब स्याद्वादी कहता है, 'स्यादस्ति" कथंचित् लाल है। अब यदि एकान्त दृष्टि की तरह उसमें संपूर्ण लालपन का आरोप किया जाय, तो उससे न्यूनाधिक लाल रङ्ग वाली बहुत सी चीजें होती हैं, उस समय क्या कहेंगे ? इसी से वस्तु स्थिति का संपूर्ण ज्ञान होता है और वस्तु के अनन्त गुण धर्म जानने के लिए ज्ञान के द्वार खुले होते हैं। कोई कहे 'रेती भारी है" तब स्याद्वादी कहता हैं "स्यादस्ति" यानी कथंचित् भारी है। यदि ऐसा न कहे तो लोहे की रत्ती उससे भी अधिक भारी होती है, उसके लिये कहने का जब मौका आवे तो फिर क्या कहना ? विशेष स्पष्टीकरण के लिये एक स्वर्ण का ग्लास लीजिए। वह एक अर्थ में द्रव्य है, सर्व अर्थ में द्रव्य नहीं है। क्योंकि आकाश और काल द्रव्य पृथक है। वैसे स्वर्ण-द्रव्य भी पृथक है। और वह द्रव्य केवल परमाणुओं का समूह है। इस प्रकार एक समय में स्वर्ण द्रव्य है, दूसरा द्रव्य नहीं। अब वह स्वर्ण ग्लास पृथ्वी के परमाणुओं का बना हुआ है, उसका अर्थ यह हुआ कि सुवर्ण पृथ्वी के धातु का विकार है। वह पृथ्वी के एवं अन्य किसी का विकार रूप नहीं। धातु के परमाणुओं का बना है, इसका अर्थ यह है कि वह सुवर्ण के परमाणुओं का बना है न कि लोहे के परमाणुओं का बना है और सुवर्ण के परमाणुओं का बना है तो वह सुवर्ण शुद्ध है या खदान से निकला है, शुद्ध बिना किये का है या "अ" का बनाया हुआ है या "ब" का ? इसका अर्थ यह है कि वह परमाणुओं का बना है। गिलास के रूप में बना है, घट के रूप में नहीं बना है। इस प्रकार जैन-दर्शन कहता है कि वस्तु

निश्चित तथा विशेष सीमा तक 'सत्' कही जाती है। परन्तु वह सर्वथा 'सत्य' नहीं कही जाती।

कोई भी वस्तु के विषय में एकान्त बोलने से उसके गुण देखने की तरफ दृष्टि नहीं रहती है। इससे उसके अनन्त धर्म देखने का ज्ञान-द्वार बन्द हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु ऐसी ही है, ऐसा कहना योग्य नहीं है। ऐसा भी है, यह कहना उचित है। "ही" अन्य धर्मों का निषेध करता है। "भी" दूसरे धर्मों को भी अवकाश देता है। सुवर्ण गिलास के उदाहरण से यह ज्ञात हुआ कि वह, कितने दृष्टियों से अवलोका जा सकता है। कोई कहेगा कि अग्नि दाहक है, "स्याद्वादी" कहेगा अदाहक भी है। लकड़ी आदि को जलाती है किन्तु आकाश, आत्मा आदि अमूर्त पदार्थों को नहीं जलाता है, अतः वह अदाहक भी है। कोई कहेगा कि 'जीव' और 'घट' दोनों भावात्मक है, परन्तु स्याद्वादी कहेगा, अभावात्मक भी हैं। जैसे, जीव चैतन्य रूप है और रूप आदि गुण स्वरूप में नहीं हैं। वैसे 'घट' रूप आदि पौद्‌गलिक (भौतिक) धर्म स्वरूप हैं किन्तु चैतन्य रूप में नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्म वाली हैं। अतः वह सर्वथा ऐसी ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है। जहां वस्तु के अनन्त धर्मों में से दो धर्म भी युगपत् (एक साथ) बोल नहीं सकते हैं वहां एकान्त बचन 'ऐसा ही है" ऐसा कहना मिथ्या है। इसीलिये तो वस्तु के प्रत्येक धर्म का विधान तथा निषेध से सम्बन्धित सात प्रकार-शब्द प्रयोगों की अर्थात् सप्तभङ्गी की रचना शासनकारों ने की है। जिसका संक्षिप्त स्वरूप "सप्त भङ्गी" के प्रकरण में दिया गया है।

एकान्त बचन को सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता है। जैसे जीव को एकान्त नित्य माना जाय तो बाल, युवा और

ध्यान में लेकर यदि अनित्य कहा जाय, तो वह भी ठीक नहीं है। क्यों कि उसकी सभी अवस्थाओं में आत्मा तो रहा हुआ है, जो नित्य है। इसी प्रकार वस्तु को एकान्त नित्य किंवा एकान्त अनित्य न कहते हुए, उसको नित्यानित्य कहना यही उचित है। कोई भी वस्तु सर्वथा ऐसी ही है, इसप्रकार स्याद्वादी नहीं कहता। एकान्ती हमेशा संकुचित विचार वाला होता है और अनेकान्ती सदा विशाल मन का होता है। एकान्ती सदा ही अपूर्ण है, जबकि अनेकान्ती सम्पूर्ण है। अतः अनेकान्त दृष्टि-युक्त बनना ही हित-कारक है। किसी भी दृष्टि में "स्यात्" लगाने से अनेकान्त दृष्टि बनजाती है। और जब दृष्टि अनेकान्त बनती है, तब वह विशाल और गम्भीर सागर जैसी बन जाती है। समुद्र के नीचे जैसे रत्न हैं और सरोवर पर जैसे पशु-पक्षी आकर के किल-किलाहट करते हैं और जल का पान करते हैं, वैसे स्याद्वाद दृष्टि भी गुण रत्नों का धारण करती है और गुणी जन उसके आश्रय में आकर के उसके गुणामृत का पान करता है। यही प्रभाव "स्याद्वाद" दृष्टि का है। अतः गुणका मनुष्य को हमेशा स्याद्वाद दृष्टि ग्रहण करनी चाहिये। यही कहने का आशय है।

× × × ×

"स्याद्वाद" में सर्व दृष्टियों का समास स्थान है उस पर अध्यात्म भावना

हे आत्मन् ! संसार सर्वथा असार है, ऐसा नहीं मानते हुए हुए धर्मार्थ-काम और मोक्ष इन पुरुषार्थों से संसार को सारभूत बनाले। क्योंकि वस्तुमात्र अनन्त गुणात्मक है। और हे आत्मन् ! तू, पर दुखःभंजन बन, जिससे तेरे आश्रय में बहुत से दुःखी जीव आकर शान्ति प्राप्त करें। तू ज्ञान, दर्शन, चरित्र इस तीन

रत्न को प्राप्त कर; जिससे तेरे पास आने वाले को तू ज्ञान दर्शन आदि जवाहरात दे सके।

× × × ×

शब्द-ज्ञान और अपेक्षा ज्ञान

शब्द ज्ञान में यद्यपि विचारने की आवश्यकता होती है, किन्तु अति सहवास से उसमें कठिनता मालूम नहीं होती। ज्ञान किंवा अपेक्षा ज्ञान तो विचारने के लिए मुख्य और विशेष रखता है। अतः उसमें विकटता मालूम हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु शब्द-ज्ञान जैसे अभ्यास-परिचय के लिए सरल होता है, वैसे अपेक्षा अथवा नयों का अभ्यास भी यदि निरन्तर रखा जाय, तो वह आसानी से थोड़े समय में ज्ञान गोचर हो सकता है।

प्रकरण—६

स्याद्वाद में सभी दर्शनों का समाधान है

संसार में सभी पदार्थ (जड़ तथा चेतन) सत्, असत् रूप, नित्य अनित्य और सामान्य विशेष रूप हैं। उन पदार्थों को यथास्थित रूप से समझने से जीव वस्तु का पूर्ण और सत्य-ज्ञान होता है। जैन दर्शन किसी भी बात को एकान्त सत्य या एकान्त असत्य, एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य एवं एकान्त सामान्य या एकान्त विशेष नहीं कहता। परन्तु वस्तु मात्र सत्–असत्, नित्य–अनित्य और सामान्य विशेष इस प्रकार उभय रूप है ऐसा कहता है। तथा बिना सत्य का असत्य, बिना नित्य का अनित्य और बिना सामान्य का विशेष भी नहीं है, ऐसा मानता है। अर्थात् उभय रूप मानता है। जो सत्य है उसकी भी व्याख्या ठीक ठीक समझने की आवश्यकता है। इसके लिये तत्वार्थ सूत्र में कहा है: "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्"। यानि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात तदात्मक है वह "सत्" कहा जाता है। मतलब यह है कि वस्तु उत्पन्न होती है, उसका व्यय होता है और उसका सत्व (मूल-पदार्थ) कायम रहता है। इस "त्रीपदी" को सिद्धांत कहते हैं। उसकी रचना सूत्रज्ञान के परंपरा के अनुसार भगवान महावीर के पश्चात् श्री गणधरों ने (उनके मुख्य शिष्यों ने) की है। वे परम सुत गीतार्थी होने से इस सिद्धांत की सत्यता और सर्वोत्तमता में शङ्का की कोई जगह नहीं है।

संसार के सभी पदार्थ सत्-असत् रूप, नित्य-अनित्य और सामान्य विशेष रूप हैं इन सबका समावेश महाज्ञानी पुरुषों ने दो नयों में किया है। (१) द्रव्यार्थि नय (२) पर्यायार्थिक नय। सात नयों का वर्णन हम आगे करेंगे। इनमें ये दो नय द्रव्यार्थिक और परियार्थिक मुख्य हैं। वस्तु स्थिति का यथार्थ और सपूर्ण ज्ञान समझने के लिये जन महर्षियों ने सात नयों की विचार श्रेणी उत्पन्न की है।

किसी भी वस्तु का इन सात नयों द्वारा अवलोकन करने से उसका संपूर्ण और यथास्थिति ज्ञान प्राप्त होता है। वास्तव में अगर देखा जाय तो यह बुद्धि बल का खजाना एक है। नय एक विशेष श्रेणी है। बल्कि यों कहना चाहिए कि किसी भी वस्तु का यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान बताने वाला यह एक आइना है। जैन दर्शन में यह सिद्धांत बहुत बड़ा महत्व रखता है। सातों नय एक दूसरे की अपेक्षा से संबन्धित हैं। निरपेक्ष हो तो वह मिथ्या है। प्रमाण ज्ञान को सातों नय ग्राह्य करते हैं। जैन धर्म का मानना है: सातों नय से जिन-वाणी सिद्ध है। और जो वचन नयों से सिद्ध होता है वही प्रमाण भूत कहा जाता है।

अब हम द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक नय के विषय में विचार करेंगे।

तित्थयरवयणसंगह, विसेस पत्थारमूल वागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि॥

(सन्मति प्रकरण)

अर्थात् तीर्थंकरों के वचनों का सामान्य और विशेष रूप राशियों का मूल प्रतिपादक, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। बाकी के सब नय इन दोनों के ही भेद हैं।

द्रव्यार्थिक नय तीनों काल में स्थायी ऐसे एक ध्रुव तथ्य को देखता है। उसकी दृष्टि में त्रैकालिक भेद जैसी कोई वस्तु नहीं है। पर्यायार्थिक नय, इन्द्रियगोचर प्रत्यक्षरूप को ही स्वीकार करता है। इसलिये उसकी दृष्टि से तीनों काल में स्थायी ऐसा कोई भी तत्व नहीं है। यह नय सिर्फ वर्तमान काल में देखा जाने वाला स्वरूप को ही मानता है। अतः उसकी दृष्टि में "अतीत और अनागत" संबन्ध से रहित सिर्फ वर्तमान वस्तु ही सत्य है। उसके मत से प्रत्येक क्षण में वस्तु भिन्न भिन्न है।

"द्रव्यार्थिक" और "पर्यायार्थिक" दोनों नयों की सापेक्ष दृष्टि वस्तु का संपूर्ण स्वरूप समझाती है। अतः पूर्ण और यथार्थ है। तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों निरपेक्ष नय की उद्घोषणा अपूर्ण तथा मिथ्या है। इन दोनों नयों की सापेक्ष दृष्टि में से जो विचार फलित होते हैं वे यथार्थ हैं। जैसे कि आत्मा के नित्यत्व के विषय में वह अपेक्षा विशेष में नित्य भी है और अनित्य भी। मूर्त्तत्व के विषय में वह कथंचित् मूर्त्त और कथंचित् अमूर्त्त भी है। शुद्धत्व के विषय में वह कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध भी है। परिमाण के विषय में कथंचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक भी है। संख्या के विषय में वह एक तथा कथंचित् अनेक भी है।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि अभेदगामी है। तथा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि भेदगामी है। नित्य, सत् और सामान्य का समावेश

द्रव्यार्थिक नय में हो सकता है। तथा अनित्य, असत् एवं विशेष का समावेश पर्यायार्थिक नय में हो सकता है। ये दोनों नय, द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक एक दूसरे की अपेक्षा करके रहते जैसे लंगड़े पैर से चल नहीं सकते वैसा ही एकांत मार्ग है। क्योंकि उससे वस्तु का संपूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं होता है। मोती अलग अलग होते हैं। उस समय उसकी कोई कीमत नहीं होती। किन्तु उनको एकत्रित करके जब हार बनाया जाता है, तब उसकी सच्ची कीमत होती है तथा तभी वह आभूषणादि में भी गिना जाता है। इसमें एकांत मार्ग वहां पृथक पृथक मोती जैसा है। और अनेकांत मार्ग मुक्तावली के हार जैसा है।

वस्तु मात्र सत्-असत् रूप है। अर्थात् सत् असत् उभयरूप है। इन दोनों का एक दूसरे के साथ ऐसा निकट का सम्बन्ध है कि वह एक दूसरे के बिना कभी रह नहीं सकता। जैसे मनुष्य ने बाल-पन में जो खराब आचरण किया होता है, उसकी जवानी में वह पश्चाताप करता है। भविष्य में वैसा आचरण न हो, इसके लिए प्रयत्न करता है। इससे देखा जा सकता है कि 'द्रव्य' और 'पर्याय' तीनों काल में सम्बन्ध रहता है। क्योंकि प्रत्येक अवस्था में आत्मा नित्य-रूप में रहा हुआ ही है। और अवस्थायें अनित्यता में रही हुई हैं। वस्तु को सत् और असत् मानने से कुछ लोग ऐसा आक्षेप करते हैं कि जैसी एक वस्तु में "असत्" और "सत्" दोनों मानते हैं। अर्थात् ठण्डे में गर्म और गर्म में ठण्डा जैसे मानते हैं। किन्तु यह आक्षेप बिना समझ का है। क्योंकि जैन सिद्धान्त वस्तु को सत् मानता है, वह स्व-स्वरूप से और असत् मानता है वह पर स्वरूप से। उदाहरण:—

उदाहरणार्थ, मिट्टी का घड़ा द्रव्यरूप से मिट्टी का है। वह जल रूप नहीं है। क्षेत्र से वह काशी का बना हुआ है, कन्नौज न

का बना हुआ नहीं। काल से वह वासन्त ऋतु का बना हुआ है। शरद ऋतु का नहीं। भाव से वह लाल रङ्ग का है, हरे रङ्ग का नहीं। एक पदार्थ में सत् और असत् है और नहीं है, दोनों धर्मों का सिद्ध होता है। इसी प्रकार वस्तु मात्र स्व रूप से सत्य है और पर रूप से असत्य है। अर्थात् स्व-द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव से सत् है और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से असत् है। इसमें ठण्डा और उष्णता की कोई बात नहीं। यह एक दूसरे के गुणधर्म की बात नहीं है। किन्तु यह तो वस्तु का सत् अर्थात् अस्तित्व और असत् अर्थात् नास्तित्व की बात है।

वस्तु जो सत् और असत् रूप है उसमें सत् का स्वरूप जानने की अति आवश्यकता है। उसके विषय में भिन्न-भिन्न मतों की मान्यतायें भी भिन्न-भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी ने तत्वार्थ सूत्र के पृष्ठ २२५ में जो उल्लेख किया है उसका अवतरण यहां देते हैं।

"कोई दर्शन सम्पूर्ण पदार्थ को (ब्रह्म) को केवल ध्रुव ही (नित्य) मानता है। कोई दर्शन सत् पदार्थ को निरन्वय, क्षणिक (मात्र उत्पाद्-विनाश-शील) मानता है। कोई दर्शन चेतन तत्व-रूप सत् को केवल ध्रुव (कुटस्थ-नित्य) और प्रकृति तत्वरूप सत् को परिणामी (नित्या-नित्य) मानता है। कोई दर्शन अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु-काल, आत्मा आदि कुछ सत् तत्वों को कुटस्थ-नित्य और घट, वस्त्र आदि कुछ पदार्थों को मात्र उत्पाद और व्यय शील (अनित्य) मानता है। परन्तु जैन दर्शन का मन्तव्य सत् के विषय में उपर्युक्त सत् मतों से भिन्न है।"

दूसरे दर्शन मानते हैं कि जो सत् वस्तु है, वह केवल पूर्ण रूप में कुटस्थ नित्य अथवा केवल निरन्वय, विनाशी अथवा

उसका अमुक हिस्सा कुटस्थनित्य और अमुक भाग परिणामिक अथवा उसका कोई हिस्सा केवल नित्य और कोई हिस्सा केवल अनित्य मानते हैं। परन्तु उनकी ये मान्यतायें योग्य नहीं है।

"जैन-दर्शन मानता है कि चेतन अथवा जड़, मूर्त अथवा अमूर्त, सूक्ष्म या स्थूल सभी सत् कही जाने वाली वस्तुयें उत्पाद, व्यय और द्रव्य रूप से निरूप हैं। प्रत्येक वस्तु में दो अंश हैं। एक अंश ऐसा है जो तीन काल में शाश्वत है और दूसरा अंश सदा अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण से प्रत्येक वस्तु ध्रुवात्मक (स्थिर) और अशाश्वत अंश के कारण से उत्पाद व्यय आत्मक (अस्थिर) कही जाती है। इन दो अंश में से किसी एक एक तरफ दृष्टि जाने से और दूसरी तरफ नहीं जाने से वस्तु केवल स्थिर रूप अथवा केवल अस्थिर रूप मालूम होती है। किन्तु दोनों अंशों की तरफ दृष्टि डालने से वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप मालूम होता है।"

इस प्रकार यदि सत् का वास्तविक स्वरूप समझा जाय तो फिर किसी प्रकार की चर्चा, टीका या उपेक्षा को स्थान ही नहीं रहता। इतना ही नहीं, किन्तु उससे सबके साथ समन्वय भी हो जाता है और छोटी-छोटी एक-एक कड़ियों के मिलने से एक जंजीर के समान हो जाता है। किसी समय सब दर्शन वाले प्रेम ग्रन्थी में हमेशा के लिए बँध जायेंगे यह निश्चित है। स्याद्वाद सिद्धान्त इस प्रकार एक सज्जन-मित्र की हैसियत को पूर्ण करता है।

और यह जो जगत देखा जाता है, वह किसी ने बनाया नहीं है। वैसे यह शून्य से भी उत्पन्न नहीं हुआ। वह अनादि काल से चला आया है, चलता है, तथा चलता रहेगा। वह अनादि, अनन्त है। उसके अन्दर रहे हुये सभी पदार्थ, जड़ और चेतन,

उत्पाद-व्यय और ध्रुवयुक्त हैं। जगत में कुछ भी नया उत्पन्न नहीं होता तथा न उसका समूल नाश होता है। पदार्थों का जो रूपान्तर होता है उसी का अर्थात् पर्याय का नाश होता है। वस्तु का मूलतत्व तो हमेशा कायम रहता है।❀ महात्मा गांधी जी स्याद्वाद के सिद्धान्त के विषय में अभिप्राय देते हुये कहते हैं, "यह जगत परिवर्तनशील है। फिर मुझे भले ही कोई स्याद्वादी कहे" स्वामी रामतीर्थ तो "जगत–ईश्वर ने बनाया," ऐसा कहने वाले का उपहास करते हुये कहते हैं कि 'ऐसा कहने वाले घोड़े के आगे गाड़ी रखते हैं।" फिर कहते हैं "परमेश्वर ने जगत बनाया तब किसी स्थान पर खड़े रहकर ही बनाया होगा, पानी होगा। पांच भूत भी होंगे। तब ईश्वर ने बनाया क्या?" संक्षिप्त में कहा जाय तो यह जगत किसी ने बनाया नहीं है, वह अनादि काल से चला आता है।

❀ [जैन-तत्व-सार-सारांश इस नाम की मैंने पुस्तक लिखी। उसमें स्याद्वाद के लिये तत्वज्ञ पुरुषों ने जो अभिप्राय दिये हैं, वे दिखलाये हैं। उसी में से यह लिखा गया है।]

जगत में केवल ब्रह्म ही सत् है और शेष असत्य है, यह मान्यता भी बुद्धि गम्य नहीं होती है। उसके लिये प्रसिद्ध प्रो० श्री राधाकृष्णन् अपने "उपनिषदों का तत्वज्ञान" पुस्तक में लिखते हैं कि पदार्थों की अनेकता, स्थान और काल का भेद कार्य कारण सम्बन्ध, दृश्य और अदृश्य का विरोध यह उपनिषद् मतानुसार परम सत्य नहीं है ऐसा हम स्वीकार करते हैं। किन्तु ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं होता कि यह तत्व अविद्यमान है। यानि उसकी हस्ती ही नहीं है।" पुनः वे आगे कहते हैं, हम जगत के सब जीवों को तथा वस्तुओं को किसी पदार्थ की छाया रूप माने तो भी जब तक वह पदार्थ सचमुच

अपनी हस्ती रखता है तब तक उस छाया की हस्ती भी सापेक्ष दृष्टि से सच्ची है। जगत की वस्तुये यह सत्य पदार्थ की अपूर्ण तस्वीरें हैं। यह ठीक है, परन्तु यह मृग-मरीचिका जैसी आभास मात्र नहीं है।" इससे जैन दर्शन सत् पदार्थ का लक्षण "उत्पात व्यय और ध्रुव" मानता है,वह अक्षरशः सत्य है, ऐसा अनुभव में आवेगा। इससे भी सत्यार्थ में देखा जा सकता है कि कोई भी वस्तु एकान्त मानने से उसका सम्पूर्ण स्वरूप देखा नहीं जा सकता। किन्तु जब उसको अनेकान्त दृष्टि से अवलोकन करेंगे, तभी वह सत्य रूप में देखा जा सकेगा।

सामान्य विशेष

अब सामान्य विशेष के विषय में कुछ देखें। जैन-दर्शन सामान्य विशेष को पदार्थों का धर्म मानता है। उसको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानता। धर्मी से धर्म कभी जुदा नहीं हो सकता। अतः सामान्य और विशेष को, जो पदार्थों से अलग मानते हैं उनकी मान्यता योग्य नहीं है। क्योंकि सामान्य विशेष पदार्थों में अभिन्न रूप से हैं। जैन दर्शन के अनुसार सामान्य विशेष, यह पदार्थों का स्वभाव है। क्योंकि धर्म धर्मी का एकान्त भेद नहीं है। सामान्य विशेष को पदार्थों से सर्वथा भिन्न मानने से एक वस्तु में सामान्य विशेष सम्बन्ध बन नहीं सकता और यदि सामान्य विशेष को पदार्थों से सर्वथा अभिन्न माना जाय तो पदार्थ और सामान्य विशेष एकरूप हो जायेंगे। इससे दोनों में एक का अभाव मानना पड़ेगा। इससे तो सामान्य विशेष का व्यवहार भी नहीं बन सकेगा। क्यों कि सामान्य विशेष वस्तु की प्रतीति प्रमाण से भी सिद्ध होती है। इससे सामान्य और

विशेष को जो लोग पदार्थों को भिन्न मानते हैं और निरपेक्ष मानते हैं, वह उचित नहीं है।

सामान्य, यह विशेष में ओत–प्रोत है। तथा विशेष, यह अभिन्न सामान्य की भूमिका के ऊपर ही रहा है। अतः वस्तु मात्र अविभाज्य, ऐसे सामान्य विशेष उभय रूप सिद्ध होता है। उदाहरण देखिये। यदि हम बिना विशेष का. केवल सामान्य माने तो विशेष छोड़ना ही पड़ेगा। परिणाम यह आयेगा, कि सुवर्ण के कुण्डल, चूड़ी, अंगूठी आदि आकारों को विचार तथा वाणी में से दूर कर केवल स्वर्ण ही है, इतना ही व्यवहार करना पड़ेगा। अर्थात् किसी भी चीज की आकृतियों का हमें विचार छोड़ देना पड़ेगा। इसी प्रकार बिना सामान्य केवल विशेष को मानेंगे, तो स्वर्ण के विचार को दूर कर केवल, कुण्डल, चुडियां, अंगूठी आदि का ही विचार हमें लाना पड़ेगा। किन्तु अनुभव से यह बात सिद्ध नहीं होती। क्योंकि कोई भी विचार या वाणी सामान्य या केवल विशेष का अवलम्बन लेकर उत्पन्न नहीं होता। इस पर यह सिद्ध होता है कि ये दोनों भिन्न हैं। फिर भी परस्पर अभिन्न भी हैं।

सामान्य विशेष की तरह वाचक और वाच्य का सम्बन्ध भी भिन्नाभिन्न है

जैसे घटादि पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं, वैसे "वाचक और वाच्य" शब्द भी सामान्य विशेष रूप हैं। क्यों कि शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) का कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध माना है। महान विद्वान श्रुत ज्ञानी श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी जी ने भी कहा है कि "वाचक-वाच्य से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं।" जैसे छुरी शब्द के कहने के समय बोलने वाले का मुख और सुनने वाले के कान कटते नहीं हैं। अग्नि शब्द के

बोलने से कोई जलता नहीं है। लड्डू कहने से किसी का मुंह नहीं भरता। अतः इससे स्पष्ट है कि वाचक से वाच्य भिन्न है।

अब छुरी शब्द बोलने से छुरी का ज्ञान होता है, अग्नि का नहीं। अग्नि से अग्नि का बोध होता है अन्य किसी का नहीं और लड्डू कहने से लड्डू का ही बोध होता है अन्य किसी का नहीं। इस दृष्टि से भी "वाचक और वाच्य" भिन्न हैं।

विकल्प से शब्द उत्पन्न होता है तथा शब्द से विकल्प। इससे हम देख सकते हैं कि शब्द और विकल्प का कार्यकारण सम्बन्ध है। फिर भी शब्द अपने अर्थ से भिन्न हैं। अब हम नित्यानित्य सम्बन्ध पर विचार करेंगे। दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त सभी पदार्थ नित्यानित्य स्वभाव वाले हैं। कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा को उल्लंघन नहीं करता। जैन दर्शन समस्त पदार्थों को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त मानता है। उदाहरण—दीपक पर्याय में परिणित तेज के परमाणुओं के समाप्त होने से या हवा लगने से दीपक गुल हो जाता है तो भी वह सर्वथा अनित्य नहीं है। क्योंकि तेज से परिमाण अन्धकार रूप पर्याय में पुदगल द्रव्य रूप से विद्यमान है। इसमें पहले की आकृति का नाश और नयी आकृति की उत्पत्ति हुई है। इसमें दीपक की अनित्यता कैसी रही? इसी प्रकार मिट्टी का घड़ा बनाने के समय कोष शिवक आदि भिन्न भिन्न आकृतियां बनती हैं। परन्तु उसमें मिट्टी का अभाव ज्ञात नहीं होता। मिट्टी प्रत्यक्ष देखी जाती है।

इस प्रकार दीपक में हम नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म देखते हैं। जैसे उसका अनित्यत्व साधारण है वैसे नित्यत्व भी साधारण सिद्ध होता है।

कुछ दर्शन वाले अन्धकार को प्रकाश का अभाव रूप मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं किन्तु प्रकाश का अभाव मात्र है। इससे वे दीपक को नित्य नहीं मानते। किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि अन्धकार भी प्रकाश की तरह स्वतन्त्र द्रव्य है। वह पुद्गल का पर्याय है। दीपक और चन्द्रमा का प्रकाश जैसे चाक्षुष (चक्षु से देखा जाय वैसा) है वैसे तम (अन्धकार) भी चाक्षुष है। तथा अन्धकार रूपवान होने से स्पर्शवान भी है क्योंकि उसका स्पर्श शीत है। पुद्गलों के लक्षण बताते हुए "नव-तत्व" नामक ग्रन्थ की ग्यारहवीं गाथा में कहा है कि—

सद्दधद्‌'यार उज्जोअ, पभाछायातवेहि अ।
वन्नगन्ध रसा फासा पुग्गलाणं तुलक्खणं ॥

यानि, शब्द, अन्धकार, प्रकाश, प्रभा, छाया आतम तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पश ये पुद्गल के लक्षण हैं। इससे सिद्ध होता है कि अन्धकार भी स्वतन्त्र द्रव्य है और वह भी पुद्गल का पर्याय है।

कुछ दर्शनकार शब्द को भी, आकाश का गुण मानते हैं। वह आकाश कुसुम-वत् है और वन्ध्या के पुत्र जैसा है। जरा सोचने की बात है कि आकाश अरूपी है और अरूपी का गुण रूपी कैसे हो सकता है। अब तो रेडियो, ग्रामोफौन, टेलीफौन, वगैरह वैज्ञानिक साधनों ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि शब्द पुद्गल है। यदि शब्द-रूपी पुद्गल नहीं होता तो पकड़ा कैसे जाता? परमाणु दो प्रकार के होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। सूक्ष्म परमाणु चर्मचक्षु से देख नहीं सकते। हां दिव्यज्ञान से वह देखा जा सकता है। इसी प्रकार यह भी पुद्गल है। किन्तु वह तेज का अभाव नहीं।

स्याद्वाद संशयवाद नहीं है।

"स्याद्वाद यह संशयवाद है परन्तु निश्चयवाद नहीं है," ऐसा कहने वाले स्याद्वाद के सिद्धान्त को नहीं समझे। मैं कई बार बतला चुका हूँ कि स्याद्वाद प्रत्येक पदार्थ को भिन्न भिन्न अपेक्षा से और विभिन्न दृष्टि से देखने को कहता है। कोई भी वस्तु यदि निश्चित रूप में समझ में न आये, तो वह संशय है। जैसे कोई मनुष्य अन्धकार में रस्सी को देखकर सांप की कल्पना करे या अन्धकार में किसी ठूंठे वृक्ष को देखकर मनुष्य की कल्पना करे तो वह संशय कहा जा सकता है। किन्तु स्याद्वाद तो एक और एक दो, दीपक की ज्योति की तरह स्पष्ट है। क्योंकि कोई भी वस्तु अपेक्षा "अस्ति" है, यह निश्चित है और किसी अपेक्षा से "नास्ति' है, यह भी निश्चित है तथा एक समय एक रूप में 'नित्य' यह भी निश्चित है। इस प्रकार एक पदार्थ में भिन्न भिन्न धर्मों का सम्बन्ध बैठाना हो, स्याद्वाद है। किन्तु वह संशयवाद नहीं है। पिता की अपेक्षा से एक आदमी पुत्र है, यह कोई इन्कार नहीं कर सकता। वैसे ही पुत्र की अपेक्षा से पिता है इसे भी कोई इन्कार नहीं कर सकता। व्यक्ति एक होते हुए अपेक्षा से पिता भी है और पुत्र भी है। यहां पिता होगा या पुत्र ऐसा संशय कोई नहीं करेगा।

स्याद्वाद में सर्वदृष्टि का समाधान है

हे आत्मन्! स्याद्वाद सिद्धांत जो कि धर्म की बुनियाद पर खड़ा है, उसकी आध्यात्म भावना क्या लिखूँ?

किसी भी दृष्टि को जब 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है, तब वह सम्यक् दृष्टि बनती हैं। और उसका मिथ्यात्व अज्ञान दूर

होता है। जो सम्यक् दृष्टि जीव है उसका हृदय इस तरह उदार बनता है कि वह सभी विश्व को समान समझता है। उसको न तो किसी पर राग है, न किसी पर द्वेष। उसके लिये मान और अपमान, निन्दा और स्तुति सभी समान हैं। पत्थर और स्वर्ण भी समान हैं। ऐसे सम्यक् दृष्टि जीव ही इस संसार सागर से पार उतर जाते हैं। वे हमेशा धर्म में तल्लीन रहते हैं। इसलिये ही स्याद्वाद दृष्टि ग्रहण करने की प्रभु ने आज्ञा दी है।

इसका विशेष निश्चय करने के लिये अहिंसा और स्याद्वाद के सिद्धांत का कितने निकट का सम्बन्ध है इसे जरा देखिये।

श्री चिमनलाल जयचन्द शाह एम० ए० ने 'उत्तर हिन्दुस्तान में जैन धर्म' नामक पुस्तक के पृष्ठ ५४ में जो उल्लेख किया है, उसको देखने का मैं अनुरोध करता हूँ।

इस प्रकार यदि अहिंसा, यह जैन धर्म का मुख्य नैतिक गुण-विशेष माना जाय तो 'स्याद्वाद' जैन अध्यात्मवाद का अद्वितीय लक्षण गिना जा सकता है। तथा शाश्वत जगत का कर्त्ता ऐसे सम्पूर्ण ईश्वर को स्पष्ट निषेध करके जैन धर्म कहता है कि हे मनुष्य! तूँ अपना ही मित्र है। इसी संदेश को ध्यान में रखकर ही जैन विधि विधानों की रचना हुई है।

नोट—"द्रव्यार्थिक-नय" की अपेक्षा से वह वस्तु नित्य, सामान्य, अवाच्य और सत् है। तथा 'पर्यायार्थिक-नय' की अपेक्षा से 'अनित्य, विशेष वाच्य और असत्य है। इससे नित्यानित्य वाद, सामान्य विशेषवाद, अभिलाप्य अनभिलाप्य तथा सत् असत् वाद इन चारों वादों का स्याद्वाद में समावेश हो जाता है।

[७]

"स्याद्वाद" यह कार्य साधक है।

जैसा कि हम पहले दिखला चुके है, प्रत्येक वस्तु सत्-असत्

रूप अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सत् और परद्रव्य, पर-क्षेत्र, परकाल और परभाव से असत् है। इस प्रकार स्याद्वाद सभी वस्तुओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नापता है। शास्त्रों में भी यही आज्ञा है कि द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के अनुसार चलना चाहिए। इससे परिणाम यह होता है कि कोई भी व्यक्ति इस प्रकार जो विचार करके चलता है, वह अवश्य उसके कार्य में सफलता प्राप्त करता है।

द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव से चलना वास्तविक रीति से मनुष्य ने आर्यक्षेत्र, आर्य्य-कुल, आर्य-धर्म प्राप्त करके सद्‌भावना पूर्वक की हुई सुकृति-कमाई का सदुपयोग करके आध्यात्मिक जीवन साधने का है। यदि ऐसा हो तो वह कभी भी लाभप्रद हुए बिना नहीं रह सकता। जैसे एक मनुष्य को एक मिल बनाने का विचार हुआ। अब वह विचारे कि मिल करने और बनाने के लिए तथा उसके व्यय को पूरा करने के लिये मेरे पास आवश्यक द्रव्य है या नहीं। क्षेत्र से वह यह विचारे कि मिल करने के लिए यह क्षेत्र अनुकूल है या नहीं। काल से वह यह विचारे कि यह समय मिल करने के लिए उपयुक्त है या नहीं। भाव से वह यह विचारे कि मैं इसमें दृढ़ रह सकूंगा या नहीं। इस प्रकार सभी तरह के विचारों को परिपक्व बनाकर और सर्वप्रकार की अनुकूलताओं को देखकर यदि मिल करे तो वह अवश्य उस काय में सफलता प्राप्त कर सकता है। द्रव्य–क्षेत्र, कालभाव से विचार कर काम करने वाला, अन्ध कदम नहीं रख सकता। वह पर्याप्त विचार कर ही काम करता है। जिससे उसे कभी भी पश्चात्ताप करने का समय नहीं आता। और न कभी वह नाहिम्मत और निरुत्साही भी होगा। तीसरे प्रकरण में व्यक्ति-विशिष्ट का विषय लिखा गया है। उसके विकास में भी

वह एक अजोड़ चाबी रूप है। इससे परिणाम यह होता है कि मनुष्य को दिन प्रतिदिन उसके कार्य में सफलता प्राप्त होने से वह हमेशा उद्यमशील, पुरुषार्थी और प्रगतिशील रहता है।

प्रगतिशील व्यक्ति को तो अपने हमेशा के कार्य्यों में भी उसका उपयोग करके चलना चाहिये। क्योंकि मनुष्य जीवन में वह सुख सम्पत्ति का बड़ा साधन है।

द्रव्य–क्षेत्र काल-भाव के ऊपर अध्यात्म भावना

हे आत्मन्! तू आर्य्य क्षेत्र में जन्म लेकर, सानुकूल समय पाकर, सम्यक् भावना हृदय में धारण कर अपनी सुकमाई का सदुपयोग कर और तेरे भावी जीवन का सम्यक् रीत्या विचार कर तू अपनी संसार यात्रा सफल बनाले। स्याद्वाद सिद्धांत का भी यही मर्म है।

अन्त में "स्याद्वाद" किंवा "अनेकान्त-वाद" का मुख्य ध्येय संपूर्ण दर्शनों को समान भाव से देख कर 'अध्यात्म भावना प्राप्त करने का है। तथा वही 'धर्मवाद' है। वही शास्त्रों का वास्तविक धर्म है।

जिस प्रकार पिता, पुत्रपर समभाव रखता है उसी प्रकार अनेकांतवाद संपूर्ण नयों को समान भाव से देखता है। जिस प्रकार सभी नदियां समुद्र में मिलती हैं उसी प्रकार सभी दर्शनों का अनेकान्त वाद में समावेश होता है। तथा जैन दर्शन सब दर्शनों का समन्वय करता है।

जिस प्रकार व्याकरणियों ने शब्द समूह का नाम सर्वनाम, विशेषण क्रियापद, अव्यय आदि में आवश्यक भेद बना कर अभ्यासियों के मार्ग में जैसी सरलता प्राप्त कर दी है वैसे ही श्री मद् हरी-भद्र सूरि जी के कथनानुसार "नय–मार्ग" किंवा

अपेक्षाओं की संख्या गणनातीत होने पर भी कुशाग्र-बुद्धि आचार्यों ने खूब मनन तथा परिशीलन के बाद केवल सात नयों में ही उस समस्त समूह को विभाजित कर दिया है।

(८)

स्याद्वाद का समस्त विश्व के साथ सम्बन्ध है।

मानस शास्त्र का विद्वान प्रो० विलियम जेम्स ने (W. James) भी लिखा है कि साधारण मनुष्य इन सब दुनिया का एक दूसरे से असंबद्ध तथा अनपेक्षित रूप से ज्ञान करता है। पूर्ण तत्व-वेत्ता वही है जो सम्पूर्ण विश्व को एक दूसरे से सम्बन्ध और अपेक्षित रूप में जानता है।❀ (स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ ३१ के आधार पर प्रो० विलियम जेम्स के अभिप्राय का हम पृथक्करण करें तो हमें यह स्पष्ट मालूम होगा कि जिसकी सापेक्ष दृष्टि है, वही समस्त विश्व के साथ अपना सम्बन्ध बांध सकता है। दुनियां की अभिनव घटनाओं को जान सकता है। सभों के साथ रुचियुक्त सम्बन्ध साध सकता है तथा अपने मार्ग को विशाल बना सकता है तथा निरपेक्ष दृष्टि वाला अर्थात् साधारण दृष्टि वाला इस विशाल-विश्व में किसी के साथ सम्बन्ध नहीं बांध सकता एवं अपने कार्यों में वह आगे भी नहीं बढ़ सकता। फलितार्थ यह है कि सापेक्ष दृष्टि ही जीवन की मार्ग दर्शिका है। इससे स्पष्ट होता है कि एकान्त दृष्टि की अपेक्षा अनेकान्त दृष्टि कितनी लाभ-दायक है। प्रो० विलियम जेम्स के कथन का यही सार है।

अनेकान्त प्रकार की विचार पद्धिति, यह सब दिशाओं से

नोट—❀The Principles of Psychology Vol. 1.
(अ० २०, पृ० २६१)

खुली मानस चक्षु है। यह ज्ञान, विचार या—आचरण के किसी भी विषय में संकीर्ण दृष्टि का निषेध करती है। जहां तक शक्य होता है, अधिक से अधिक बाजुओं से, दृष्टिकोणों से और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से सभी विचार और आचरण करने में पक्षपात करती है। तथा उसका सभी पक्षपात सत्य-आश्रित होता है। अनेकान्त और अहिंसा ये दोनों तत्व महान् से महान् हैं। जैन धर्म के वे आधार स्तम्भ हैं वे दोनों प्रतिमा सम्पन्न और प्रभाव वाले सिद्ध हैं। अहिंसा का नाद तो महात्मा गाँधी ने समस्त विश्व में गुञ्जाया। अब उसके प्रतीक स्वरूप स्याद्वाद सिद्धान्त को अपनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। देश की संगठन शक्ति को बढ़ाने के लिये तथा सच्चा ज्ञान प्राप्ति के लिये अत्युत्तम मार्ग है। प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा तथा अनेकान्त दृष्टि को प्रेम-पूर्वक लागू करने से समस्त विश्व के साथ उसका सम्बन्ध साधा जा सकता है।

"स्याद्वाद्" का उत्कृष्ट उद्देश्य दर्शनशास्त्रों के झगड़ों को मिटाकर और समन्वय की साधना कर जनता को सत्य ज्ञान की प्राप्ति कराकर मुक्ति-गामी बनाने का है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से व्यावहारिक कार्यों में भी उसकी उपयोगिता कोई कम नहीं है। व्यवहार में स्याद्वाद हमें किस प्रकार सहायता करता है, इसका संक्षिप्त ख्याल निम्नलिखित वृत्तान्त से आ सकता है।

कर्मोपासना

कर्मोपासना के लिए ज्ञानियों ने निश्चय और व्यवहार दो मार्ग दिखलाए हैं। उनमें जो निश्चित मार्ग है, वह मार्ग आत्म लक्षी है। दिशा सूचन करने वाला मार्ग है। उसको लक्ष में लेकर व्यवहार की समस्त प्रवृत्तियां करनी चाहिये। यही इस लोक

तथा परलोक को सार्थक बनाने का उत्तम मार्ग है। इसके लिए महोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज ने कहा है कि—

निश्चय दृष्टि चित्त धरी जी,
पाले जो व्यवहार ।
पुण्यवन्त ते पामशे जी,
भव-समुद्र नो पार ।"

अर्थात् निश्चय दृष्टि को मन में धारण करके जो व्यवहार का पालन करेगा वह भाग्यशाली विशाल समुद्र से पार उतरेगा।

अंग्रेजी में कहा है कि, "Ask your conscience, and then do it." यानी तू अपनी आत्मा को पहले पूछ तथा बाद में हरेक कार्य कर। आत्मा ही मनुष्य का सच्चा मित्र है। वही सच्ची सलाह देता है। इसीलिये कहा जाता है कि अन्तरात्मा की आवाज सुनकर ही कोई कार्य करो।

स्याद्वाद दृष्टि, यह निश्चय दृष्टि है। तथा जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सभी व्यवहारिक कार्य निश्चय दृष्टि को सामने रख कर करना चाहिए। इस प्रकार स्याद्वाद दृष्टि जगत के जीवों का कल्याण करने के लिये उत्कृष्ट मार्ग है।

व्यापार

व्यापार में भी देखा जाय तो उसमें भी एकान्त दृष्टि का त्याग कर हमें अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेना पड़ेगा। हम लोगों में अभी भी कुछ ऐसे प्राचीन रूढ़ीवाद के पुजारी हैं जो कि मानते हैं कि हमारे बाप-दादे जो व्यापार करते आये है वही हम भी करेंगे तथा उसी को करना चाहिये। मान लीजिये कि हमारे उस पुराने व्यापार में मिहनत और पूंजी के प्रमाण में यदि उचित लाभ नहीं होता है और उस धन्धे में खास कोई फायदा

नहीं दिखता है तो उस पिता के कुंए में डूब मरने से क्या फायदा है ? दुनियां कितनी आगे बढ़ती जा रही है, वह हमें देखना चाहिए। और हमारी शक्ति एवं पूंजी के प्रमाण में जिस व्यापार में हमें फायदा दिखता हो, उसको करना चाहिये। कहने का सारांश यह है कि एकान्त बुद्धि और दुराग्रह में न पड़ते हुए अनेकान्त दृष्टि का अवलम्बन करना चाहिये तथा यही हित-कारक और उत्तम मार्ग है।

ज्ञाति के हानिकारक रिवाज

हम लोगों में ऐसे बहुत कुरिवाज घुस गये हैं जो इस समय के लिए अत्यन्त हानिप्रद सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ, ज्ञाति जीवन।

ज्ञाति, यह समस्त ज्ञाति जनों का अवयवी द्रव्य है। तथा ज्ञाति के लोग समस्त ज्ञातिरूपी अवयवी द्रव्य का अवयव हैं। अवयवी, अवयवों से कथंचित अभिन्न हैं। एक दूसरे के साथ सापेक्ष हैं। जिससे ज्ञाति जनों में समस्त ज्ञाति रूपी अवयवी द्रव्य का द्रव्यत्व हमेशा बहा करता है। कोई भी रिवाज फर्जि-यात् होने से सभी को करना ही पड़ता है। ज्ञाति भोजन का रिवाज भी ऐसा ही है। इसका परिणाम क्या आता है, इसे देखिये। ज्ञाति में जो लोग लक्ष्मी संपन्न हैं, उनको किसी प्रकार का भी व्यय करने में न उन्हें कोई नुकसान होता है और न ज्ञाति को किसी प्रकार का असर होता है। किन्तु जब गरीबों को या साधारण स्थिति के लोगों को उस रिवाज का पालन करने का समय आता है तब उनको अपना सर्वस्व नाश करके भी उस रिवाज का पालन करना पड़ता है। परिणाम यह आता है कि समग्र ज्ञाति-रूपी आत्म-द्रव्य का एक अंग दुर्बल पड़ जाता है।

और ऐसे गरीबों की अधिक संख्या होने से सारा ज्ञाति-द्रव्य दुर्बल पड़ जाता है। शरीर के एक अंग को पक्षाघात होने से सारा शरीर नष्ट-प्राय: होता है। उसी प्रकार ज्ञाति द्रव्य के अंग दुर्बल पड़ने से परिणामत: उस सारी ज्ञाति का ही ह्रास होता है। अत: ऐसे हानिकारक रिवाजों के दूर करने का कार्य्य भी "स्याद्वाद" के सिद्धान्त से सीखा जा सकता है।

राजकीय दृष्टि

हमारा समस्त भारतवर्ष भारतवासियों का अवयवी द्रव्य है। भारतवासी उस अवयवी द्रव्य का पर्याय हैं। जिससे समस्त भारतवासियों में समस्त भारतवर्ष की भावना अखंडित होकर बहनी चाहिये। आत्मा की बाल, युवा और वृद्धा अवस्था होती है। उसमें आत्मद्रव्य सभी में समान रीति से रहता है। ये दोनो सापेक्ष हैं। ये अवस्थायें स्वतन्त्र होकर एक दूसरे का वर्चस्व स्थापन करने जाय तो उसमें अपना स्वयं का नाश होगा। इतना ही नहीं, वह अपनी आत्मा को भी भुला देगी। उसी प्रकार भारतवर्ष के संप्रदाय–समाज-वाद स्वार्थ किंवा सत्ता लोभ की लालसा में पड़ यदि सब कोई अपना २ वर्चस्व स्थापित करने को जायें और समग्र भारतवर्ष का हित भूल जायं तो उनकी भी अवस्था ऐसी होगी जैसी ऊपर बताई गई है। ये खुद नाश होंगे और समस्त भारत का हित भी नष्ट होगा। अत: समस्त भारतवासियों ने "भारत हमारा देश है, हम सभी इसके पुत्र हैं और भारत के हित ही में हमारा हित सम्मिलित है।" इस प्रकार की भावना मन में दृढ़ करनी चाहिये। इस भावना से भारत का उत्कर्ष होगा अन्यथा आजकल जो दशा कोरिया की हो रही है, वही दशा भारत की भी होगी। इस तरह

(युनिटी) "ऐक्य" का पाठ भी स्याद्वाद के सिद्धान्त से सीख सकते हैं।

ज्ञाति संबंधी

ज्ञाति का प्रश्न भी हम सप्त भंगी से हल कर सकते हैं। किसी भी द्रव्य का किसी भी वस्तु का, उसके एक धर्म को लेकर भाव, किंवा अभाव रूप में वास्तविक कथन करना, वह भंग कहलाता है। उसके मुख्य "सत् और असत्" दो भंगों के विषय में ही हमें विचार करने का है। जब उसका ऐक भाग सद्भाव पर्याय में नियत होता है, अर्थात् उसके अस्थि धर्म की विचारणा होती है तब, समस्त ज्ञाति जनों को ज्ञाति के उत्कर्ष का सवाल हाथ में लेकर एकत्र होना चाहिये, क्यों कि "सत्" हमेशः भिन्न नित्य, अविभक्त और व्यापक होता है। और जब उसका एक भाग 'असत्" के पर्याय में नियत होता है, अर्थात् जागृत धर्म की विचारणा होती है, तब उसमें ज्ञाति जनों को व्यक्तिगत सवाल हाथ धर कर भिन्न होना चाहिये। क्यों कि असत् हमेशा अनित्य, भिन्न, द्वेषव्यापी और विभक्त है। इस प्रकार सप्त भंगी भी ज्ञाति के व्यक्तिगत सवाल के उत्कर्ष के समय में, साथ मिलने का और अपकर्ष के समय में भिन्न होने को सिखाती है।

"स्याद्वाद" से क्रमशः समन्वय अविरोध साधन, तथा फल भी सूचित होता है। क्योंकि जहां समन्वय दृष्टि है वहां विरोध शान्त हो जाता है। तथा जहां विरोध शान्त होता है वहां साधन मिलते ही फल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अनेकान्त-दृष्टि ग्रहण करते हुये बहुत फायदे होते हैं। अनेकान्त वाद के प्रभाव से ही विश्व में मताभिमान

के– कदाग्रह के मूल साफ हो जायेंगे। इस लिये 'स्याद्वाद मार्ग का ग्रहण करना प्रत्येक तत्वभिलाषियों के लिये परम कल्याण कारक है। क्योंकि समस्त जगत के कल्याण का यही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है।

— —

(९)
"स्याद्वाद की मौलिकता और सिद्धि"

स्याद्वाद यही प्रतिपादन करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। वह पदार्थों की अमुक अपेक्षा को लेकर ही होता है। इसलिये हमारा ज्ञान अपेक्षित सत्य है।

वास्तव में सत्य एक है, केवल सत्य की प्राप्ति का मार्ग जुदा-जुदा है। अल्प शक्ति वाले अपूर्ण ज्ञानी इस सत्य का पूर्ण रूप से ज्ञान करने में असमर्थ हैं। अत: उनका संपूर्ण ज्ञान अपेक्षित सत्य ही कहा जाता है। यही जैन-दर्शन की अनेकान्त दृष्टि का गूढ़-रहस्य है।

जगत् में पूर्णत: किंवा सिद्धि: किसको पसन्द नहीं है। सभी उसको प्राप्त करने लिये प्रतीक्षा में नहीं हैं क्या? धनिक होना किसको पसन्द नहीं है? तत्ववेत्ता किंवा विज्ञानी होना कौन पसन्द नहीं करता? योगी–योगीश्वर होना किसे पसन्द नहीं? मान-प्रतिष्ठा किसको प्रिय नहीं? कीर्ति कौन नहीं चाहता? संक्षेप में कहा जाय तो जगत के सभी मनुष्य पूर्णतः और सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। प्रश्न केवल एक ही रहता है कि वह लाना कहां से। उसके लिये, ऐसा सरल और सीधा कौनसा मार्ग है? जो मनुष्य से साध्य हो सकता है। तथा उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा जा सकता है।

(स्याद्वाद-मंजरी पृष्ठ २४)

इसके लिये भगवान महावीर ने जगत के प्राणियों को ऐसा उत्तमोत्तम मार्ग दिखलाया है कि जिसके पालन से अनेक महापुरुषों ने पूर्णता प्राप्त की हैं और वह मार्ग है "स्याद्वाद" किंवा अपेक्षित "सत्य"। उन्नति-गिरि के शिखर पर पहुँचने का जगत के लिये यही सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट मार्ग है।

अधिकान्त दृष्टि सत्य की वास्तविक सोपान है। अन्य सभी दर्शनों की अपेक्षा भगवान महावीर की सप्त निरूपण करने की शैली भिन्न है। उसी शैली का नाम है, 'अनेकान्त-वाद'। उसके मूल में दो तत्व हैं, एक पूर्णता और दूसरा यथार्थता जो पूर्ण होकर के यथार्थ रूप से प्रतीत होता है, वही सत्य कहा जाता है। इस अनेकान्त दृष्टि को भगवान महावीर ने अपने जीवन में उतारा। तत्पश्चात् उन्होंने जगत को उपदेश दिया।

ऊपर हम देख गये कि अपेक्षित सत्य से पदार्थ की पूर्णता या तो पूर्ण सत्य से हम प्राप्त कर सकते हैं उससे हमें स्वाभाविक विचार उत्पन्न होता है कि यह आपेक्षिक-सत्य क्या होगा कि जिससे पूर्ण-सत्य किंवा सिद्धि प्राप्त हो सकती है, इस विषय का हम पृथक्करण करेंगे।

विज्ञान भी अनन्त समय तक त्रिविध-रूप से प्रकृति का अभ्यास कर रहा है। किन्तु प्रकृति के एक अंशमात्र को भी पूर्णतया जान नहीं सका।

इस पूर्ण सत्य के प्राप्त करने के कारणों में जैन-दर्शन कहता है कि "अमुक अपेक्षाओं को लेकर ही पदार्थ का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त किया जा सकता है।" जो दर्शन पदार्थ मात्र को

असत्-सत् रूप अपेक्षा से मानता है वही पूर्ण सत्य प्राप्त कर सकता है। इसके अलावा जो लोग पदार्थ को केवल सत् या केवल असत् मानने वाले हैं उनसे प्राप्त नहीं हो सकता। तथा पदार्थ का लक्षण जो अर्थक्रियाकारित्व है वह भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता। पदार्थ मात्र सत्-असत् रूप है। अर्थात् वह स्वस्वभाव से सत्य है परन्तु पर-स्वभाव से असत् है। पाश्चात्य तत्व ज्ञानियों में "सर विलियम हेमिलटन" आदि पंडित इस अपेक्षावाद का आदर करते हैं तथा कहते हैं कि "पदार्थ-मात्र परस्पर सापेक्ष हैं। अपेक्षा के बिना पदार्थत्व ही नहीं बनता। "अश्व"कहा वहां अनश्व की अपेक्षा हो ही जाती है। दिवस कहा, वहां रात की अपेक्षा होतो जाती है। अभाव कहा, वहां भाव की अपेक्षा हो जाती है।●

यह 'स्याद्वाद" सिद्धान्त को पुष्टावलंबन है। स्याद्वाद भी यही कहता है कि 'सत्' के पीछे 'असत्' हमेशः खड़ा ही है। वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। और स्वाभाविक हैं। वह सत् को जैसे आपेक्षिक सत्य मानता है वैसे ही असत् को भी सत् मानता है। इससे स्याद्वादी जो बोलता हो, उसके सामने, उससे विरुद्ध दूसरी दृष्टि से कोई बोलता हो तो उससे वह उस पर गुस्सा नहीं करेगा। वह तो विरोध का कारण खोजने का प्रयत्न करेगा। तथा कारण को शोध करके उसका समन्वय करेगा। इससे विरोध का कारण शांत हो जाता है। वह जानता है कि "वस्तु-मात्र अनन्त धर्मात्मक है।" यही स्याद्वाद किंवा अनेकांत वाद का गूढ़ रहस्य है।

यहां एक बात याद रखने की है, वह यह किसी भी पदार्थ का अभिप्राय दृष्टि किंवा मत उच्चारने का हो, वह पदार्थ प्रमाण

●(नय-फरणिका पृष्ठ पांचवीं का)

से सिद्ध होना चाहिये। प्रमाण से असिद्ध पदार्थ को "स्याद्वाद" नहीं मानता है। सारांश यह है कि मुमुक्षु लोग तत्व को सम्यक् ज्ञान पूर्वक, असंख्य-दृष्टि से विचार कर संसार की असारता को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। वैसे गृहस्थ लोग भी अमुक वस्तु को असंख्य दृष्टि से देखकर लाभ उठाते हैं यानी स्याद्वाद, यह व्यवहार एवं निश्चय दोनों मार्ग का प्रदाता है।

"स्याद्वाद की सिद्धि"

प्रत्येक द्रव्य, प्रतिक्षण उत्तर परियाय होने से पूर्व परियाय का नाश होने पर भी स्थिर रहता है। जैसे दो बालक की माता एक होती है, वैसे उत्पन्न और नाश का अधिकरण एक ही द्रव्य होता है।

इस प्रकार उत्पत्ति और व्यय होने पर भी द्रव्य तो स्थिर ही रहता है। एक वस्तु उत्पाद, व्यय और द्रव्य रूप है। फिर भी द्रव्य की अपेक्षा से कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और साथ ही नाश भी नहीं होती। क्योंकि द्रव्य में भिन्न परियाय उत्पन्न और नाश होने पर भी द्रव्य तो एक रूप में ही दिखता है। द्रव्य की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु स्थिर है। केवल परियाय दृष्टि से ही उस की उत्पत्ति तथा नाश होता है। उत्पाद आदि परस्पर भिन्न होने पर भी एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं है। तथा यदि वे एक दूसरे निरपेक्ष माने जायें तो आकाश कुसुम की तरह उसका अभाव हो जायगा। उदाहरणार्थ, एक राजा को एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। पुत्री के पास एक सुवर्ण का घट था। राजा के पुत्र ने उसे तोड़वा कर उसका मुकुट बनवाया। इससे राजपुत्री को शोक हुआ। क्योंकि घड़ा उसका था। पुत्र को खुशी हुई, क्योंकि उसको मस्तक पर धारण करने के लिये एक सुन्दर मुकुट मिला।

राजा मध्यस्थ रहा। उसको न शोक हुआ न हर्ष। कारण कि उसके घर में सुवर्ण द्रव्य जितना था, उतना ही कायम रहा।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थायें (वर्तमान) स्थित हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यही वस्तु का लक्षण है।

वेदान्त के अनुसार वस्तुतत्व सर्वथा नित्य है। और बौद्ध मत के अनुसार सर्व वस्तु क्षणिक है। परन्तु जैन मतानुसार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति और नाश होने से पर्याय की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है तथा उत्पत्ति और नाश होने पर भी वस्तु स्थिर है। क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है। इस प्रकार जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु को कथंचित् अनित्य मानता है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य परस्पर कथंचित् भिन्न हैं। तथापि वे सापेक्ष हैं। नाश और स्थिति के बिना केवल उत्पाद का सम्भव नहीं है। तथा उत्पाद तथा स्थिति के बिना नाश का भी सम्भव नहीं। इस प्रकार उत्पाद और नाश के बिना स्थिति का भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म विद्यमान हैं। पदार्थों में अनन्त धर्मों के के माने बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो पाती। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं हैं वह आकाश कुसुम की तरह असत् है। क्योंकि आकाश में न फूल है न फूल में अनन्त धर्म है। इससे वह सत् नहीं। जहां साध्य नहीं है, वहां साधन भी नहीं।

नयाभास

जो नय किंवा अपेक्षा दूसरे नय अथवा अपेक्षा का निषेध करे; तथा अमुक अपेक्षा सच्ची और शेष सभी खोटी है, ऐसा कहता है, उसे पण्डित लोग नयाभास कहते हैं--"दुर्नय" कहते हैं।

(१०)

'स्याद्वाद' के प्रति गलत-फ़हमी का खुलासा

बहुत से प्रसिद्ध विद्वान भी "स्याद्वाद" सिद्धान्त के सत् और असत् को प्लेटो आदि सद्-असद् के सिद्धान्त के साथ तुलना करके "स्यात्" का अर्थ सद्-असद् को "सद्-असद्" का मिश्रण गिनते हैं। वे कहते हैं कि "स्याद्वाद" अर्द्ध सत्य की ओर हमें ले जाता है। परन्तु यह अभिप्राय सत्य से दूर हो जाता है। इसमें "लैला और मजनू" का उदाहरण देकर प्रेम दृष्टि से नैसर्गिक प्रेम और वृद्धों की दृष्टि से उन्माद का प्रेम, उसमें समावेश करते हैं। यह सब स्याद्वाद के सिद्धान्त के अज्ञानता का सूचक है। उसके लिये निम्नलिखित उद्देश्य विशेष उपयोगी होगा।

"अतः 'स्याद्वाद' हमें केवल जैसे अर्द्ध सत्य को ही पूर्ण सत्य मानने के लिये बाध्य नहीं करता, किन्तु वह सत्य का दर्शन करने के लिये अनेक मार्गों की खोज करता है।"

❀ "स्याद्वाद का इतना ही कहना है कि मनुष्य की शक्ति सीमित है। अतः उस अपेक्षित सत्य को प्राप्त करना चाहिये। अपेक्षित सत्य के जानने के बाद हम पूर्ण-सत्य केवल ज्ञान के साक्षातकार करने का अधिकारी होते हैं।" इस पर से यह समझा जा सकता है कि 'स्याद्वाद' का सत्-असत् यह सत्-असत् का

(स्याद्वाद मञ्जरी पृ० २६ से)

मिश्रण नहीं है। और न वह अर्द्ध सत्य को सूचित करता है। प्रो० आनन्द शङ्कर बापू भाई ध्रुव ने भी कहा है कि वह "वाद का अञ्जन" है। दूसरे दृष्टान्त से कह सकते हैं कि वह ताला नहीं किन्तु कुञ्जी है। मुकदमा नहीं किन्तु न्याय तौलने का कांटा है। "स्याद्वाद" के सत्-असत् रूप को जो सत्य और असत्य मानते हैं, उसमें "स्याद्वाद" का जो "स्यात्" अर्थात् अपेक्षित सत्य, भी उसको कैसे लगे।

'दही और दूध' का आक्षेप करने वाले के लिये भी इस पुस्तक में लोहिया कालेज के प्रो० श्री धीरू भाई ने "स्याद्वाद मत समिक्षा" का अभिप्राय देते हुये कहा है कि "स्याद्वाद को दही-दूध कहने वाले भ्रान्ति में हैं।"

वे लोग वेदान्त जगत को अनिर्वचनीय कहते हैं। बुद्धि को निःस्वभाव कहते हैं। ऐसा जो कथन करते हैं वे, उन दर्शनकारों की मान्यता के अनुसार योग्य हैं। परन्तु साथ ही साथ "जैन दर्शन भी जगत् को अवक्तव्य ही कहता है।" ऐसा जो कहते हैं, वह योग्य नहीं। जैन दर्शन तो जगत के पदार्थों को "सत् और असत् उभय मानता है। इससे जगत् को वचनीय तथा अनिर्वचनीय उभय कहता है।

जो अवक्तव्य कहते हैं, वे तो वचन बोलने के सात प्रकार जिसे सप्त-भंगी कहते हैं, उसीका तीसरा प्रकार है। उस सप्त-भंगी का स्वरूप इसी पुस्तक में आगे दिया जा रहा है। उसका तात्पर्य्य यह है कि पदार्थों में अनन्त धर्म हैं। उनमें से एक साथ क्रमशः बोला जाय तो नित्य-अनित्य यह दो ही धर्म बोले जा सकते हैं। किन्तु 'युग-पत्' अर्थात एक साथ वे दो धर्म भी बिना क्रम से बोलने से बोले नहीं जा सकते। इसलिये तीसरा भंगा

(भेद) अवक्तव्य का कहा है। किन्तु जगत् के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

जो लोग जगत् के कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, वे ही सर्वशक्तिमान हैं, अन्य उससे नीचे हैं, ऐसी मान्यता वाले जगत को बीच का, माध्यमिक, सत्य-असत्य का मिश्रण मानते हैं। किन्तु जो लोग, "आत्मा सो परमात्मा" यानी आत्मा वही परमात्मा है, ईश्वर है, प्रभु है, सर्वशक्तिमान है। ऐसा मानते हैं, वे वैसी मान्यता नहीं रखते हैं। तथा "स्याद्वाद" का सिद्धान्त वैसा सूचित भी नहीं करता। वह तो समग्र सत्य की ओर ले जाता है।

"स्याद्वाद" मानी सत्य और निश्चित मानी है। उसमें असत्य किंवा अनिश्चित का स्थान नहीं है। क्योंकि वह आपेक्षिक सत्य है। हेतु-पूर्वक वचन है। जो हेतु-पूर्वक वचन होता है वह सत्य ही होता है। अन्यथा वह प्रमाण-शास्त्र के आधार से हेत्वाभास हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि 'स्याद्वाद' की वाणी में असत्य तथा अनिश्चता को स्थान नहीं है। उसमें संशय-वाद को भी स्थान नहीं है। प्रो० आनन्द शङ्कर बापूभाई धृव ने "स्याद्वाद" के विषय में मत देते हुए कहा है, "स्याद्वाद" संशयवाद नहीं, वल्कि वस्तु-दर्शन की व्यापकता का ज्ञान सिखाता है।"

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। जिससे उसके आपेक्षिक विरुद्ध धर्मों का भी वह समावेश कर सकता है उदाहरण के तौर पर, एक ही मनुष्य पिता की अपेक्षा से पुत्र तथा पुत्र की अपेक्षा से पिता है। इस प्रकार उसके आपेक्षिक विरुद्ध धर्मों का समावेश कर सकता है, वह सत्य है। किन्तु उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वह वस्तु उससे विरुद्ध स्वभाव वाली दुसरी वस्तु को

अपने में समा देती है। इससे 'स्याद्वाद' को 'ठण्डे को उष्ण और उष्ण को ठण्डा" कह के जो आक्षेप किया जाता है वह सत्य से दूर है।

वस्तु मात्र, स्व-स्वभाव से सत्य है और पर स्वभाव से असत्य है। वह पर स्वभाव वाली वस्तु को अपने सत्य में किस प्रकार मिला सकती है, यह बुद्धि-गम्य बात नहीं है।

(प्रसिद्ध प्रोफेसर हर्बर्ट स्पेंसर भी कहता है कि आकृति फिरती है, वस्तु नहीं। यह बात "त्रिपदी" के सिद्धांत की पुष्टि करता है।)

स्याद्वाद या अपेक्षावाद से ही यथार्थता और पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है

यदि सर विलियम हेमिल्टन के शब्दों में कहा जाय तो "पदार्थ मात्र परस्पर सापेक्ष हैं; बिना अपेक्षा के पदार्थ में पदार्थत्व ही सम्भव नहीं। अश्व कहने पर अनश्व की और अभाव कहने पर भाव की अपेक्षा होती है" उसकी यह मान्यता अनेकान्त सिद्धान्त से सर्वथा मिलती जुलती है। इससे स्याद्वाद सिद्धान्त के अमूल्य सूत्र "अर्पितानर्पित सिद्धेः" की भी पुष्टि होती है। 'तत्वार्थ सूत्र' में इस सूत्र के दो अर्थ दिये गये हैं। पहिले हम उसके प्रथम अर्थ पर विचार करते हैं:—

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, क्योंकि अर्पित याने अर्पणा अर्थात् अपेक्षा से और अनर्पित याने अनर्पणा अन्य अपेक्षा से वस्तु के विरुद्ध स्वरूप की सिद्धि होती है। इसलिये पदार्थ मात्र स्वरूप से 'सत्' और पर रूप से 'असत्' अर्थात 'सदसत्' रूप है, यह प्रमाणित होता है। 'सत्' तथा 'असत्' की एकत्र स्थिति हुए बिना पदार्थ कभी भी अनन्त धर्मात्मक नहीं हो सकता। इसी से ही पदार्थ एक और अनेक रूप होता है। पदार्थ का पदार्थत्व और व्यक्ति विशिष्टत्व भी इसके बिना नहीं बन सकता। इसीलिये मानना पड़ता है कि वस्तु के यथार्थ एवं पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति यदि किसी से होती है तो वह केवल अपेक्षावाद अर्थात् स्याद्वाद ही से होती है। सर विलियम हेमिल्टन का भी यही कहना है। केवल 'सत्' या केवल 'असत्'

निःसन्देह एकता में विविधता और विविधता में एकता का दर्शन करके ही जैनाचार्यों ने इस स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त ने विश्व की महान सेवा की है।

मान कर पदार्थ की पूर्णता की आशा करना बालू से तेल निकाल के समान है। स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द का मूल्याङ्कन है। इसी तरह यह शब्द शब्द-शास्त्र में शब्द मात्र पर विजय पाने की भी कुंजी है। 'स्यात्' का अर्थ है-'कथंचित्'। जो इसका 'कदाचित्' अर्थ करते है वे मूर्खता और स्याद्वाद सिद्धान्त से अपनी अज्ञता सूचित करते हैं। किसी भी शब्द के साथ 'स्यात्' लगाने से वह अनन्त धर्मात्मक हो जाता है। यह अनेकान्त मार्ग का द्योतक है। इस सिद्धान्त को अपनाने से वैज्ञानिकों का क्षेत्र विशिष्ट होता है। स्याद्वाद पदार्थ मात्र को असंख्य दृष्टि बिन्दुओं से देखना सिखाता है। इसी में ही उसकी गौरवता, विशालता और विशिष्टता है। कसौटी पर कसे जाने के बाद ही सौ रंच का सोना प्राप्त होता है और बिलोये जाने के बाद छाछ में से मक्खन निकलता है।

इस प्रकार ढोल के दोनों बाजुओं की तरह किसी भी वस्तु को जब विविध दृष्टि बिन्दुओं से देखा जाता है तभी उसमें से सार भूत वस्तु प्राप्त हो सकती है। विभिन्न अन्वेषण और खोजें भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होती हैं। इस तरह यदि देखा जाय ता विज्ञान भी 'स्याद्वाद' सिद्धान्त का ही आभारी है।

जगत में जड़ और चेतन—ये दो प्रधान पदार्थ हैं। जड़ में जड़त्व और चेतन में चेतनत्व लाने वाला यदि कोई है तो वह केवल अपेक्षावाद या स्याद्वाद है। अपेक्षा के बिना पदार्थ में पदार्थत्व ही नहीं बन सकता, यह ऊपर बताया जा चुका है।

दुनियां में अनेक मनुष्य हैं, परन्तु उनमें जब मनुष्यत्व आता है, तभी उनकी कीमत होती है। अन्यथा 'मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति' के अनुसार वे पशु की कोटि में गिने जाते हैं। "आत्मत्वं" आने पर ही आत्मा महान् बनता है। पुरुष भी मर्द

तभी कहलाता है जब उसमें पुरुषत्व आता है इसी तरह पदार्थ मात्र में पदार्थत्व लाने का श्रेय एकमात्र अपेक्षावाद या स्याद्वाद को ही है।

इतना ही नहीं स्याद्वाद तुलनात्मक वचन विन्यास का भी प्रेरक है। उदाहरण के लिये—यह बड़ा है, यह छोटा है या यह धनी है, यह निर्धन है। इत्यादि जो तुलनात्मक प्रयोग होते हैं, वे सब इसी सिद्धान्त को लक्ष्य कर होते हैं।

अब हम 'अर्पितानर्पित सिद्धे:' इस सूत्र के दूसरे अर्थ पर विचार करें—

प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है; क्योंकि अर्पणा और अनर्पणा अर्थात् विवक्षा के कारण प्रधान अप्रधान रूप से व्यवहार होता है।

पदार्थ मात्र 'सदसत्' है, यह ऊपर कहा जा चुका है। इस सूत्र में यह बताया गया है कि जब 'सत्' की प्रधानता होती है तब 'असत्' गौण हो जाता है और जब 'असत्' की प्रधानता होती है तब 'सत्' को गौणता। इस प्रकार पदार्थ में अनन्त अस्तित्व और नास्तित्व होता है। उदाहरणत:—किये कर्म मनुष्य को भोगना ही पड़ते हैं—इसमें कर्तृत्वकाल प्रधान है और भोक्तृत्व काल गौण। कालान्तर में भोक्तृत्व काल प्रधान हो जाता है और कर्तृत्व काल अप्रधान परन्तु आत्मा दोनों कालों में एक सा ही रहता है। वन्ध्या स्त्री सर्वकाल वन्ध्या नहीं

जैन शास्त्रकारों ने मध्यस्थ भाव के ऊपर बहुत जोर दिया है, वे शास्त्रों का गूढ़ रहस्य तथा धर्मवाद भी उसे ही मानते हैं। इतना ही नहीं वे तो यहां तक कहते हैं कि उसके द्वारा प्राप्त शास्त्र के एक पदमात्र का ज्ञान भी सफल है और उसके बिना अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी निरर्थक है।

होती; क्योंकि किसी न किसी काल में तो वह पुत्रवती होती ही है। अश्व कहने पर अनश्व की अपेक्षा होती है, यह बात ऊपर सर विलियम हेमिल्टन के शब्दों में कही जा चुकी है। पदार्थ उत्पन्न होता है, व्यय होता है और ध्रुव रूप में पदार्थत्व हमेशा कायम रहता है, इस प्रकार की त्रिपदी के सिद्धान्त को यह सूत्र सिद्ध करता है। सुवर्ण का लोटा तुड़वा कर जब हार बनवाया जाता है, तब लोटा प्रधान और हार अप्रधान होती है। हार के तैयार हो जाने पर हार प्रधान और लोटा अप्रधान माना जाता है; परन्तु सोना-द्रव्य ध्रुव रूप में सदा वर्तमान रहता है। गाय खल खाती है, उससे दूध होता है-इसमें खर प्रधान है और दूध गौण। दूध से दही बनता है-यहां दूध प्रधान और दही गौण। दही से मक्खन निकलता है, इसमें दही प्रधान तथा मक्खन अप्रधान। मक्खन से घी बनता है-इसमें मक्खन प्रधान और घी गौण रूप में है। इस प्रकार वस्तु मात्र अनेक रूप से व्यवहार्य है। अस्तिता नास्तिता भी उसमें अनन्त बार होती रहती है और पदार्थत्व हमेशा कायम रहता है, यह बात ऊपर के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है। बिना 'असत्' के न 'सत' सम्भव है और न बिना 'सत' के असत् ही। इसी लिये पदार्थ मात्र 'सदसत' रूप है, यह सिद्ध होता है। अनेकान्त मार्ग की अपेक्षा एकान्त मार्ग बहुत ही अनर्थकारी है, यह नीचे के दृष्टान्त से समझा जा सकेगा।

किसी समय तीन शास्त्री देशाटन के लिये निकले। रास्ते में किसी वृक्ष के नीचे अलग अलग स्थान पर विश्राम करने लगे। वृक्ष पर एक बन्दर बैठा था, परन्तु भिन्न भिन्न जगहों पर स्थित होने के कारण कोई उसको समूचे रूप में न देख सका। पहला उसका केवल मुंह ही देख सका, दूसरे को उसका केवल पेट ही दिखाई दिया और तीसरा केवल उसकी पूंछ ही देख पाया।

जिसने मुंह देखा था वह पेट और पूंछ देखने वालों को मिथ्या बतलाता था। जिसने पेट देखा था वह शेष दो को झूठा कहता था और जिसने पूंछ देखी थी वह मुंह और पेट देखने वालों को असत्यवादी बतलाता था। इस प्रकार तीनों परस्पर झूंठा, लुच्चा आदि कह कर झगड़ने लगे। इतने में ही बन्दर वृक्ष पर से कूद पड़ा। उसको इस समग्र रूप में कूदा देख कर वे सब स्तब्ध रह गये और आश्चर्य करने लगे। अब उन्हें अपनी अपनी भूल समझ में आई। इस तरह एकान्त मार्ग बहुत अनर्थकारी है, जबकि अनेकान्त मार्ग हमेशा हितावह है।

"श्री श्रमण भगवान महावीर जिस समय कौशाम्बी नगरी में पधारे तब वहाँ के राजा की बहिन जयन्ती ने, जो शय्यातरी के रूप में प्रसिद्ध है, भगवान से प्रश्न किया कि—हे भगवन्! जागते हुये अच्छे या सोते हुये?" भगवान् ने उत्तर दिया—"बहुत सों का जागृति रहना अच्छा है और बहुत सों को सोते रहना ही अच्छा है। जागृत रहकर जो धर्म कार्य करते हैं, उनका जागना अच्छा है और जो जागकर अधर्म में प्रवृत्त होते हैं, उनका सोते रहना ही अच्छा है।" इस प्रकार कुल तेरह प्रश्न जयन्ती श्राविका ने भगवान से किये थे, जिनका भगवती सूत्र में उल्लेख हुआ है।❀

अनेकान्तवाद—जैन तत्वज्ञान की खास विशेषता है। कुछ विद्वान् वैदिक दर्शन में अथवा बौद्ध दर्शन में अनेकान्तवाद का उद्गम होना बतलाते हैं, परन्तु यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होता है कि—किसी भी जैनेत्तर दर्शन से अने-

---

❀ यह उद्धरण विद्वद्रत्न पूज्य जम्बु विजयजी महाराज साहेब की ओर से प्राप्त हुआ था। प्रसङ्गवश इसको यहाँ उद्धृत किया है।

कान्तवाद की उत्पत्ति नहीं। वस्तुतः यह जैन दर्शन का अपना एक स्वतन्त्र और विशिष्ट सिद्धान्त है। इतना ही नहीं जगत् की तत्व विचारधारा में अनेकान्तवाद एक मौलिक और अमूल्य हिस्सा है।

अनेकान्तवाद पृ० १३८

× × ×

'सत्' वस्तु कदापि निरपेक्ष, स्वय केन्द्रित या अमूर्त नहीं हो सकती। वस्तुतः अन्य सत् पदार्थों के साथ अनेकविध सम्बन्ध से जुड़ी हुई होने से वह अनन्तधर्मात्मक है। 'सत्' ही एक तथा अनेक बनता है। साथ ही वह नित्य भी है और अनित्य भी सामान्य रूप भी है और विशेष रूप भी. कूटस्थ भी है और परिणामी भी. वह द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी। इस प्रकार ऊपर से देखने पर वह परस्पर विरोधी धर्मों का धाम दिखाई देता है। कारण यह कि इन सभी धर्मों का 'सत्' में समन्वय हो जाता है। यही स्याद्वाद का सार है। और यही स्याद्वाद जैन दर्शन का आत्मा है।

अनेकान्तवाद पृ '१३९

नय रेखा दर्शन

प्रश्नोत्तरावली

प्रश्न—नय का अर्थ क्या है ?

उत्तर—आंशिक (अंशत:) सत्य का नाम नय है। अनेक धर्म वाली वस्तु में किसी एक धर्म विशेष को स्पर्श करने वाले अभिप्राय को जैन शास्त्रों में नय की सञ्ज्ञा दी गई है।

प्रश्न—निश्चय नय याने क्या ?

उत्तर—जो दृष्टि वस्तु की तात्त्विक स्थिति को अर्थात् उसके मूल स्वरूप को स्पर्श करती है, उसको निश्चय नय कहा गया है।

प्रश्न—व्यवहार नय का क्या मतलब है।

उत्तर—जो दृष्टि वस्तु के बाह्यावस्था की ओर लक्ष्य करती है, उसको व्यवहार नय कहते हैं।

प्रश्न—नय की विशेष व्याख्या कीजिये।

उत्तर—अभिप्राय प्रकट करने वाला शब्द, वाक्य, शास्त्र या सिद्धान्त---ये सभी नय कहे जा सकते हैं।

प्रश्न—नय सम्पूर्ण सत्य रूप में स्वीकार किया जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—कारण ?

उत्तर—अभिप्राय या वचन प्रयोग जब गणना के बाहर हैं तो

❀ प्रस्तुत लेख संवत् १६८८ में प्रकाशित 'जैनतत्त्वसार' नामक मेरी पुस्तिका से लिया गया है। यह 'आत्मानन्द प्रकाश' के पुस्तक २८ अंक २ के दूसरे पृष्ठ में भी प्रकाशित हुआ है।

नय उनसे भिन्न नहीं, अतः उनकी गणना नहीं हो सकती।

प्रश्न—द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—मूल पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न—और पर्याय ?

उत्तर—द्रव्य के परिणाम को पर्याय कहते हैं।

प्रश्न—क्या किसी वस्तु का सर्वथा नाश या उत्पत्ति संभव है ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—नयाभास से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—वस्तु के किसी धर्म विशेष को स्वीकार करके उसके अन्य धर्मों को स्वीकार न करने वाली दृष्टि--नयाभास है।

प्रश्न—नय के कितने भेद हैं ?

उत्तर—सात।

प्रश्न—उनके नाम क्या हैं ?

उत्तर—१ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ़ और ७ एवंभूत।

प्रश्न—इन में द्रव्यार्थिक कौन से हैं और पर्यायार्थिक कौन से ?

उत्तर—पहले चार द्रव्यार्थिक हैं और शेष तीन पर्यायार्थिक।

प्रश्न—नैगम नय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—यह नय वस्तु को सामान्य, विशेषादि ज्ञान के जरिये नहीं किन्तु उसको सामान्य विशेषादि अनेक रूप से मानता है। जैसे—मैं लोक में रहता हूँ।

प्रश्न—और स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—जब कोई पूछता है कि—तुम कहाँ रहते हो तो कहा जाता है कि—लोक में। फिर जब पूछता है कि किस लोक में ? तो उत्तर देते हैं—भरतखण्ड में। फिर किस देश में ? तो उत्तर देते हैं—गुजरात में। इस प्रकार नैगम नय

वस्तु को सामान्य विशेषादि ज्ञान द्वारा नहीं मानकर ऊपर लिखे अनुसार सामान्य विशेषादि अनेक रूप से मानता है। सामान्य ही विशेष हो जाता है और विशेष सामान्य। यह नय अंश ग्राही है; अत: देश (खण्ड) को भी सम्पूर्ण सत्य रूप में मान लेता है। साथ ही यह कल्पना का भी आश्रय लेता है और उसी मुताबिक व्यवहार करता है। फिर भी उसको एक रूप से नहीं; जैसा कि पहले कहा गया है—अनेक रूप से मानता है।

प्रश्न—इस नय के भेद कितने और क्या हैं ?

उत्तर—इस के तीन भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—१ भूत, २ भविष्य ३ वर्तमान।

प्रश्न—भूत नय से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो नय भूतकाल में हो जाने वाली वस्तु का वर्तमान की तरह व्यवहार करता है, वह भूत नैगम है। उदाहरण के तौर पर—दिवाली के दिन यह कहना कि आज भगवान महावीर का निर्वाण हुआ।

प्रश्न—भविष्य नैगम का क्या अर्थ है ?

उत्तर—भविष्य में होने वाली वस्तु को हो गई कहना—भविष्य नैगम है। जैसे चावल पूरे न पके हों फिर भी कहना कि चावल पक गये।

प्रश्न—वर्तमान नैगम किसे कहते हैं।

उत्तर—क्रिया प्रारम्भ न होने पर भी तैयारी देखकर हो गई कहना—वर्तमान नैगम है।

प्रश्न संग्रह नय का क्या मतलब है ?

उत्तर—'सम्' का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से, ग्रह यानी ग्रहण करना। जो सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है, वह संग्रह नय है। इस में सामान्य की मान्यता है विशेष की नहीं।

प्रश्न—पूरी व्याख्या कीजिये।

उत्तर—यह सामान्य ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं को अपने में समाविष्ट कर लेता है। अर्थात् सामान्य ज्ञान का विषय कहता है।

प्रश्न—व्यवहार नय याने क्या है?

उत्तर—इस नय में विशेष धर्म की प्रधानता है। यह आम के लिये वनस्पति लो, ऐसा न कहकर आम लो, ऐसा स्पष्ट निर्देश करता है।

प्रश्न—ऋजुसूत्र नय का क्या आशय है है?

उत्तर—यह नय वर्तमान समयग्राही है और वस्तु के नव-नव रूपान्तरों की ओर लक्ष्य देता है। यह सुवर्ण के कट, कुण्डल आदि पर्यायों को तो देखता है, परन्तु इनके अतिरिक्त स्थायी द्रव्य-सुवर्ण की तरफ इसकी दृष्टि नहीं जाती। इसलिये इस नय की दृष्टि से सदा स्थायी द्रव्य नहीं है।

प्रश्न—शब्द नय किसे कहते हैं?

उत्तर—शब्द के अनेक पर्यायों के अर्थ को मानने वाला शब्द नय है। जैसे इन्द्र को शक्र, पुरन्दर आदि नामों से भी कहना। कपड़ा, वस्त्र, लुगड़ा आदि शब्दों का एक ही अर्थ है, ऐसा इस नय का मानना है।

प्रश्न—समभिरुढ़ नय से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—यह नय कहता है कि—एक वस्तु का सक्रमण जब अन्य वस्तु में हो जाता है, तब वह अवस्तु है। जैसे—'इन्द्र' शब्द रूप वस्तु का संक्रमण जब शक्र में हो जाता है। तब उसका भिन्न अर्थ हो जाता है। 'इन्द्र' शब्द का अर्थ है—ऐश्वर्यशाली, शक्र का शक्तिशाली और पुरन्दर का अर्थ है शत्रुओं के नगर को नाश करने वाला हो जाता

है यद्यपि ये सभी शब्द इन्द्र के पर्याय वाचक हैं, परन्तु क्योंकि उनका अर्थ भिन्न है, इसलिये वे परस्पर भिन्न हैं, ऐसा यह नय मानता है।

प्रश्न—एवंभूत नय का क्या मतलब है ?

उत्तर—जिस वस्तु का जो कार्य-प्रयोजन है, उसको पूरा करती हुई साक्षात् देखी जाय तभी उसको उस नाम से कहना चाहिये अन्यथा नहीं; ऐसा इसका नय का मानना है। जैसे—'घट' शब्द में 'घट' यह प्रयोजक धातु है और उसका अर्थ है, चेष्टा करना। इसलिये किसी स्त्री के मस्तक पर आरूढ़ हो कर पानी लाने का कार्य पूरा करने वाला घट ही इस नय के अनुसार घट शब्द वाच्य है।

प्रमाण !

प्रश्न—नय और प्रमाण में क्या अन्तर है ?

उत्तर—नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञान है, परन्तु उन दोनों में भेद यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध करता हैं, जब कि प्रमाण उसके सर्वांशों का। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय कर लिया जाता है, तब वह 'नय' कहलाता है। जैसे नित्यत्व धर्म द्वारा आत्मा अथवा प्रदीप नित्य है, ऐसा निश्चय कर लेना। जब अनेक धर्मों द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाता है तो वह प्रमाण कहा जाता है। यथा—नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्मों द्वारा आत्मा अथवा प्रदीप नित्यानित्य आदि अनेक रूप हैं, ऐसा निश्चय करना। दूसरे शब्दों में कहें तो 'नय' प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह रूप है। क्योंकि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण उसको अनेक दृष्टिओं से ग्रहण करता है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता के बल पर उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। इसके विपरीत जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से पैदा होता है, वह परोक्ष है।

प्रश्न—कौनसा ज्ञान परोक्ष है ?

उत्तर—मति और श्रुति ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

प्रश्न—कौनसा ज्ञान प्रत्यक्ष है ?

उत्तर—अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान ये प्रत्यक्ष हैं।

प्रश्न---(श्रीमद् देवचन्द्र जी कृत) 'नय चक्रसार' के अनुसार प्रमाण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सर्वनय के स्वरूप को ग्रहण करने वाला तथा जिसमें सर्व धर्मों की जानकारी है, ऐसा ज्ञान प्रमाण शब्द वाच्य है।

प्रमाण का अर्थ होता है--नाप। तीनों लोकों के सर्व प्रमेय को नापने वाला ज्ञान प्रमाण है। और उस प्रमाण का कर्ता आत्मा प्रमाता है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। प्रमाण के मूल दो भेद हैं--प्रत्यक्ष और परोक्ष। आत्मा के उपयोग से इन्द्रिय प्रवृत्ति बिना जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। दो भेद हैं—१ देश प्रत्यक्ष और २ सर्व प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मन: पर्याय ज्ञान की गणना देश प्रत्यक्ष में होती है. अवधि ज्ञान पुद्गल के कुछ पर्यायों को जानता है और मनः पर्याय ज्ञान मन के समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष रूप से जानता हैं, परन्तु अन्य द्रव्य को नहीं जानता इसीलिये इन दोनों ज्ञानों को देश प्रत्यक्ष कहा गया। क्योंकि वह अमुक देशापेक्षया वस्तु को जानता है, सर्व देशापेक्षया नहीं।

केवल ज्ञान, जीव तथा अजीव, रूपी तथा अरूपी सम्पूर्ण लोक के त्रिकालवर्ती भाव को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, अत: वह सर्व प्रत्यक्ष हैं।

मति ज्ञान तथा श्रुत ज्ञान ये दोनों अस्पष्ट ज्ञान है, इसलिये परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं।

परोक्ष प्रमाण के चार भेद हैं—(१) अनुमान (२) उपमान (३) आगम (४) अर्थापत्ति।

जिस चिन्ह से पदार्थ पहिचाना जाता है, उसको लिंग कहते हैं, उससे जो ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है। अर्थात् लिंग देखकर वस्तु का निर्णय करने

वाला प्रमाण अनुमान प्रमाण है। जैसे-गिरिगह्वर (गुफा) में धूम्र (धुआँ की रेखा देखकर अनुमान करना कि--यह पर्वत अग्नि वाला है। इस प्रकार पक्ष तथा साध्य कहना इस उदाहरण में पर्वत पक्ष और अग्नि साध्य हैं।

रसोईये ने रसोईघर में धुआँ और अग्नि को एक साथ देख कर यह व्याप्ति निर्धारित की कि जहां जहाँ धुआं होता है, वहां-वहां अग्नि होती है। इस प्रकार व्याप्ति का निर्धारण करना—शुद्ध अनुमान प्रमाण है।

सदृशता के द्वारा अज्ञात वस्तु का जो ज्ञान होता है, वह उपमान प्रमाण है। जिस तरह गाय शब्द से उसके सदृश बैल या गवय का जो ज्ञान हुआ वह उपमान प्रमाण है।

किसी फलरूप लिंग के द्वारा अज्ञात पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है। यथा—देवदत्त शरीर से पुष्ट है, परन्तु वह दिनको भोजन नहीं करता। तो अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जाना जाता है कि दिन को नहीं तो रात को जीमता होगा अन्यथा उसका शरीर पुष्ट नहीं हो सकता।

श्न—नैयायिकों की दृष्टि से प्रमाण का स्वरूप बताइये।

उत्तर—"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्" जिसके द्वारा वस्तु का बराबर निश्चय होता है, वह प्रमाण कहलाता है। उसके दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। मन सहित चक्षु आदि इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष और उससे विपरीत ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। परोक्ष विषयों का ज्ञान परोक्ष प्रमाण से होता है। प्रत्यक्ष को इंगलिश में Direct और परोक्ष को Indirect कहते हैं। परोक्ष के पांच भेद हैं—१स्मरण २प्रत्यभिज्ञान ३तर्क ४अनुमान और ५आगम।

स्मरण--पूर्व में अनुभव की हुई वस्तु की स्मृति होना-स्मरण है।

प्रत्यभिज्ञान--खोई हुई वस्तु जब वापिस हाथ में आती है, तब 'यही वह है' इस प्रकार का जो ज्ञान उदित होता है, यह प्रत्यभिज्ञान है।

स्मरण होने में पहले के अनुभव ही कारणभूत हैं. जब कि प्रत्यभिज्ञान दोनों की सहायता से होता है। इसमें दोनों का समावेश हो जाता है। पहिले किसी व्यक्ति को देखा हो और बाद में वही सामने मिले तब हम कहते हैं कि इसी व्यक्ति को मैंने पहिले भी देखा था। इस प्रकार इसमें अनुभव और स्मरण दोनों समाविष्ट हैं।

तर्क--जो वस्तु जिसके अभाव में नहीं रहती, उस वस्तु का इसके साथ जो सहभाव सम्बन्ध है, उसका निश्चय करने वाला तर्क है। उदाहरण के तौर पर--बिना अग्नि के धुआं नहीं होता अर्थात् अग्नि के अभाव में धुआं नहीं रह सकता। इनके इस सहभाव सम्बन्ध को शास्त्रों में 'व्याप्ति' कहा जाता है। जब तक कि अग्नि के साथ धुआँ का सम्बन्ध पहिले कभी देखा न हो तब तक धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता।

अनुमान--अर्थात् जिस वस्तु का अनुमान करना हो उस वस्तु को छोड़ कर अन्यत्र न रहने वाला हेतु। जैसे भगवे रङ्ग का झण्डा देख कर यह ज्ञान होना कि यहां महादेव का मन्दिर है। अर्थात् हेतु को लेकर वस्तु का निश्चय करने वाला अनुमान प्रमाण है।

आगम--सद्बुद्धि वाले, यथार्थ उपदेष्टा, जिनको आप्त कहा जाता है, ऐसे पुरुषों के कथन को आगम प्रमाण कहा जाता है। (जैन दर्शन)

निक्षेप

निक्षेप का नाम निर्देश

नामस्थापना द्रव्यभावतस्तन्नयासः ।५।

(नाम + स्थापना + द्रव्य + भावतः + तत् + न्यासः)

सूत्रार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से इनका सम्यग्दर्शन तथा जीवादि का न्यास अर्थात् विभाग होता है।

विशेषार्थ व्याख्या

प्रश्न—निक्षेपन्यास यानी क्या ?

उत्तर—एक ही शब्द प्रयोजन अथवा प्रसग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ देखे जाते हैं और यही चार अर्थ इस शब्द के सामान्य अर्थ चार विभाग है। इन विभागों को ही 'निक्षेप' या 'न्यास' संज्ञा दी गई है।

प्रश्न—इनको जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर—इससे तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इससे यह पृथककरण हो जायगा कि सम्यग दर्शन आदि अर्थ और तत्व रूप से जीवाजीवादि अर्थ अमुक प्रकार का लेना चाहिये दूसरे प्रकार के नहीं।

प्रश्न—नाम निक्षेप का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो अर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध न होकर केवल माता पिता अथवा दूसरे लोगों के संकेत से जाना जा सकता है, उसको नाम निक्षेप कहते हैं। यथा—कोई एक ऐसा व्यक्ति है, जिसमें सेवक के कोई गुण नहीं, परन्तु किसी ने उसका नाम सेवक रक्खा इसलिये उसको सेवक नाम से पहिचाना जाता है। यह नाम सेवक है।

प्रश्न—स्थापना निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो वस्तु मूल वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र हो या ऐसी कोई भी चीज जिसमें मूल वस्तु का आरोप किया गया हो तो वह स्थापना निक्षेप है। जैसे किसी महापुरुष का चित्र मूर्ति, आदि स्थापना हैं।

प्रश्न—द्रव्य निक्षेप किसे कहेंगे ?

उत्तर—जो अर्थ भाव निक्षेप का पूर्व रूप अथवा उत्तर रूप हो, वह द्रव्य निक्षेप है। जैसे कोई ऐसा व्यक्ति है, जो वर्तमान में सेवा कार्य नहीं करता, परन्तु या तो उसने भूतकाल में सेवा कार्य किया था या भविष्य में करने वाला है तो वह द्रव्य सेवक है।

प्रश्न—भाव निक्षेप से क्या तात्पय है ?

उत्तर—जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त समान रूप से घटित होता हो वह भाव निक्षेप है। ऐसा व्यक्ति जो सेवा का कार्य करता है, भाव सेवक कहलायगा।

प्रश्न—सम्यक् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग के और जीव अजीव आदि तत्वों के चार विभाग—निक्षेप संभवित हैं, तो यहां कौन से समझें ?

उत्तर—प्रस्तुत प्रकरण में भाव रूप समझना।

प्रश्न—संक्षेप में नाम सम्बन्धी विवेचन कीजिये।

उत्तर—नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रूढ़। रसोईया, कलईगर आदि यौगिक नाम हैं। गाय, घोड़ा आदि रूढ़ शब्द हैं। यौगिक शब्द व्युत्पत्ति निमित्त हैं। और रूढ़ शब्द प्रवृत्ति निमित्त क्योंकि उनका अर्थ रूढ़ि के अनुसार होता है।

सप्त भंगी स्वरूप

(योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागर सूररिकृत 'आत्मप्रकाश' से उद्धृत)

प्रथम भंग

'स्यादस्त्येव घट.' (स्यात्+अस्ति+एवं+घटः) अमुक दृष्टि से घट है।

जिसमें स्वत के द्रव्यादिक चार धर्मों की व्यापकता है, उसको अस्ति स्वभाव कहते हैं। उनमें से द्रव्य-गुण पर्याय समूह का आधार है। क्षेत्र-प्रदेश रूप है। अर्थात् सर्व गुण पर्यायावस्था का अवस्थिति रूप-जो जिसको रखता है, वह उसका क्षेत्र है। उत्पाद व्यय ध्रुव रूप से वर्तना का नाम काल है। भाव—यह सर्व गुण पर्याय का कार्य धर्म है। तत्र—जीव द्रव्य का स्व, द्रव्य प्रदेश गुण का समुदाय द्रव्य है। जीव के असंख्यात प्रदेश ही क्षेत्र हैं तथा जीव के पर्यायों में कार्य कारणादि का जो उत्पाद व्यय है, वही स्वकाल है। आत्मा के गुण पर्याय का कार्य धर्म ही उसका स्वभाव है। इस प्रकार स्वद्रव्यादिक चतुष्टय रूप से जो परिणत होता है, उसको ही द्रव्य का अस्तिव समझना। द्रव्य का अस्ति स्वभाव अन्य धर्म के रूप में परिणत नहीं होता। सर्व द्रव्य स्व द्रव्यादिक चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति स्वभाव वाला है; अत: अजीव रूप में परिणत नहीं होता। कोई जीव अन्य जीव के रूप में परिणत नहीं होता इसी तरह धर्म द्रव्य अधर्म के रूप में, अधर्म धर्म के रूप में तथा जीव का एक गुण अन्य गुण के रूप में परिणत नहीं होता। ज्ञान गुण में ज्ञान का अस्तिव और दर्शनादिक अन्य गुणों का नास्तिव हैं। चक्षुदर्शन में अचक्षुदर्शन का नास्तिव और चक्षुदर्शन की अस्तिव है। एक गुण के अनन्त पर्याय हैं तथा सब पर्याय धर्म समान हैं; किन्तु एक

पर्याय के धर्मों का दूसरे में कोई अस्तित्व नहीं हैं। इसी प्रकार अन्य पर्याय के धर्म प्रथम पर्याय में नहीं हैं। इसलिये सर्व द्रव्य अपने धर्म की अपेक्षा से अस्ति रूप हैं।

इति स्वभाव स्वरूप रूप प्रथम भङ्ग

द्वितीय भंग

'स्यान्नास्त्येव घटः' (स्यात्+न+अस्ति-एव+घटः) अर्थात् किसी अपेक्षा से घट नहीं है।

एक द्रव्यादिक के जो द्रव्य, क्षेत्र काल भाव हैं, वे सदा उसी में अवष्टम्भ रूप से रहते हैं। विवक्षित द्रव्यादिक से भिन्न द्रव्यादि के धर्मों का व्यावृत्ति पर-धर्म हैं, वह विवक्षित घट में नहीं अर्थात् इसमें उनकी नास्तिव हैं; इसलिये वह नास्ति स्वभाव वाला हुआ। लेकिन यह नास्तिव अजीव द्रव्य में अस्ति रूप से वर्तमान है। घट में घट के धर्मो का सद्भाव और पटादि धर्मों का अभाव है इसीलिये घट में घटत्व का अस्तित्व और पटत्व का नास्तित्व है तथा जीव में ज्ञानादि गुणों का अस्तित्व और पुद्गलादि का नास्तित्व है।

'भगवती सूत्र' में भी कहा है—"हे गौतम! अत्थिन्तं अत्थित्ते परिणमइ, न त्थित्त न त्थित्ते परणमइ" इसी तरह 'ठाणांग सूत्र' में भी—"१ सिय अत्थि २ सिय नत्थि ३ सिय अत्थि नत्थि ४ सिय अवक्तव्य" इस प्रकार की चतुर्भंगी का उल्लेख है। श्री विशेषावश्यक सूत्र में कहा है कि—जो वस्तु के अस्तित्व नास्तित्व धर्म को जानता है, वह सम्यक् ज्ञानी है और जो इनके स्वरूप को नहीं जनता वह मिथ्यात्वी हैं। इसी तरह जो अपथार्थ रूप में जानता हैं वह भी उसी कोटि में है। कहा भी हैं:—

द्रव्य, गुण और पर्याय में से प्रत्येक की सप्तभंगी बनती है। इस सप्तभंगी के परिणाम को ही स्याद्वादपन कहा गया है। स्वधर्म में परिणत होना अस्ति धर्म है और अन्य धर्म में परिणत होना नास्ति धर्म है। यह सप्तभंगी वस्तु धर्म में है। वस्तु अपने पर्याय में वर्तमान है, उसमें अन्य पर्याय का, जिसमें दूसरी वस्तु परिणत है, असद्भाव है। वह नास्ति धर्म है। एक ही वस्तु में अस्ति और नास्ति धर्म समकाल में रहते हैं। वस्तु के अनन्त अस्ति और अनन्त नास्ति धर्म केवल ज्ञानी को समकाल में ही भासित होते हैं तथा भगान्तर बचन से उनको कह भी सकते हैं। छद्मस्थ उनके समकालिक अस्तित्व को श्रद्धापूर्वक मानता है। श्री श्रुत केवली को वस्तु के अनन्त धर्म क्रमशः भासित होते हैं क्योंकि भाषा के द्वारा उनका कथन क्रमशः ही हो सकता है। सब धर्मों का कथन एक साथ होना सम्भव नहीं, यही कारण है कि उनके पूर्व में 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है अन्यथा कथन में असत्यता आती है। इसीलिये 'स्यात्' शब्द पूर्वक सप्तभंगी का प्रयोग किया जाता है। द्रव्य, गुण, पर्याय स्वभाव है वह सब द्रव्यों में समान है, इसको ही दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

मुंह, ओष्ट, गला, कपाल कुक्षितला आदि सब पर्याय की अपेक्षा से घट सत् है। घट में उसके पर्यायादि का जब सद्भाव माना जायगा तभी कुम्भ उसके धर्म की अपेक्षा से सत् कहा जा सकता है। अन्य धर्मों का उसमें अभाव है यह सूचित करने के लिये 'स्यात्' पूर्वक अस्ति भंग कहना चाहिये। इस प्रकार 'स्यात् अस्ति घटः' यह प्रथम भंग हुआ। इसी तरह जीव ज्ञानादि धर्मों की अपेक्षा से अस्ति रूप है, इसलिये 'स्यात् अस्ति जीवः' यह प्रथम भंग हुआ। पट में वर्तमान शरीर को ढकना, लम्बा फैल जाना इत्यादि धर्मों का घट में नास्तित्व है, क्योंकि ये धर्म पट के हैं घट के नहीं, इसलिये पट के धर्मों

की अपेक्षा से घट असत् है यही बात जीव के विषय में भी कही जा सकती है। जीव में अचेतन, द्रव्य, मूर्त, पर्यायादि धर्मों की नास्तिता है अतः इनकी अपेक्षा से जीव असत् है। इस प्रकार "स्यान्नास्त्वेव घट" अथवा 'स्यान्नस्त्वेव जीवः' यह दूसरा भंग हुआ अजीव में अचेतनादि धर्मों की अस्तिता है, यह बताने के लिये ही स्यात् पद का प्रयोग हुआ है।

तृतीय भंग

'स्यादवक्तव्य एव घटः' (स्यात्+अवक्तव्य+एव+घटः) कथंचित् घट अवक्तव्य है।

सर्व घटादि वस्तु अपने द्रव्य पर्यादि की अपेक्षा से 'सत्' और अन्य द्रव्य पर्यादि की अपेक्षा से 'असत्' है। इसी तरह जीव भी ज्ञानादि धर्मों की अपेक्षा से 'सत्' और अचेतनादि धर्मों की अपेक्षा से 'असत्' है। इस प्रकार एक ही वस्तु में सत्व तथा असत्व दोनों धर्म समकाल में वर्तमान हैं। परन्तु वाणी से दोनों धर्मों का कथन युगपत सम्भव नहीं, क्योंकि भाषा में ऐसा कोई सांकेतिक शब्द ही नहीं, जिसके द्वारा दोनों धर्मों का समकाल में ज्ञान हो सके। अतः 'स्यात् अवक्तव्य एव घटः' यह तीसरा भङ्ग है। वस्तु धर्म सर्वथा वचन अगोचर है, इस एकान्त दृष्टि की शंका के समाधान के लिये 'स्यात्' पद का प्रयोग किया गया है।

ऊपर के तीनों भङ्ग विकलादेशी और शेष चार भङ्ग सकलादेशी हैं।

चौथा भंग।

'स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव घटः'(स्यात्+अस्ति+एव, स्यात्+न+अस्ति एवं घटः) किसी अपेक्षा से घट है और किसी अपेक्षा से घट नहीं है।

एक देश में स्वपर्याय के अस्तित्व से और अन्यत्र पर पर्याय के नास्तित्व से वस्तु में सत्व तथा असत्व इस प्रकार दोनों धर्म विद्यमान हैं। जिस तरह घट स्वपर्याय की दृष्टि से सत् और पर्यादि पर पर्याय की दृष्टि से असत् है अर्थात् घट स्वपर्याय से घट और पर पर्याय से अघट हैं. इसी तरह जीव में भी स्वपर्यायों की अास्तिता और पर पर्यायों की नास्तिता एक ही काल में है, परन्तु कहने में असंख्याता समय लगाते हैं। इसी-लिये स्यात् अस्ति नास्ति इस चतुर्थ भंग का प्रतिपादन किया गया।

पांचवा भंग।

'स्यादस्त्येव स्यादवक्त येएव घट:' (स्यात + अस्ति + एव, स्यात + अवक्तव्य + एव + घट:)

अर्थात् कथंचित् घट है और कथंचित् अवक्तव्य है।

एक देश में स्वपर्याय की अपेक्षा से अस्ति और अन्यत्र एक साथ स्वपर उभय पर्यायों की दृष्टि से सत्व और असत्व दोनों धर्मों का समकालिक कथन किसी सांकेतिक शब्द के अभाव में असम्भव होने से 'स्यात् अस्ति स्याद वक्तव्य' रूप पांचवा भंग कहा।

छट्ठा भंग।

'स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घट:' (स्यात् + न अस्ति, स्यात + अवक्तव्य + ऐव + घट:)

अर्थात अमुक दृष्टि से घट नहीं है और अमुक अपेक्षा से वह अवक्तव्य है।

एक देश में पर पर्याय की अपेक्षा से नास्तित्व धर्म की मुख्य रूप से विवक्षा करने के बाद स्वपर्याय से अस्तित्व और पर पर्याय से नास्तित्व—इस प्रकार स्व पर उभय पर्याय की दृष्टि से

सत्वासत्व का युगपत कथन नहीं हो सकता, क्योंकि पर पर्याय से कुम्भ अकुम्भ है इसीलिये अवक्तव्य है और बिना कथन किये श्रोता को उसका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अन्य भंगों के अनुसार 'स्यात' पद लगाकर, स्यान्नास्ति' अवक्तव्य रूप छट्ठा भंग कहा गया।

सातवां भंग।

'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घटः स्यात + अस्ति + एव + स्यात + न + अस्ति + एव + स्यात + अवक्तव्य + एव + घटः)

अर्थात किसी दृष्टि से घट है, किसी दृष्टि से घट नहीं है और किसी दृष्टि से घट अवक्तव्य है।

एक देश में स्वपर्याय की अपेक्षा से अस्तित्व और अन्यत्र पर पर्याय की अपेक्षा से नास्तित्व तथा अन्य देश में स्वपर रूप उभय पर्यायों की अपेक्षा से सत्वासत्व रूप उभय पर्यायों का समकालिक कथन अवक्तव्य होने के कारण उभय धर्मों की विवक्षा के लिये स्यात्'अस्ति नास्ति युगपत अवक्तव्य रूप'सातवां भंग हुआ।

इस प्रकार एक धर्म को लेकर यह सप्तभंगी कही गई है। 'नय चक्र' में तीसरा भङ्ग 'स्यादवक्तव्य' को लिखा है 'सम्मति तर्क' के द्वितीय कांड में सप्तभङ्गी के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है, उसमें भी 'स्यादवक्तव्य' को ही तीसरा भंग बतलाया गया है। टीकाकार ने भी इसी भङ्ग को तीसरा भङ्ग माना है। इस प्रकार दो ग्रन्थों में इसी को तीसरे भङ्ग के रूप में स्वीकार करते हुये 'स्यादवक्तव्य' की गणना सकलादेश में की है। किन्तु स्याद्वाद मंजरी' 'रत्नाकरावतारिका', 'आगमसार' तथा श्री आत्माराम जी

महाराज कृत 'तत्व निर्णय प्रासाद' आदि अनेक ग्रन्थों में 'स्यातअवक्तव्य को' चौथा भङ्ग कहा गया है। 'ठाणांग सूत्र' में भी 'सिय अवक्तव्यम्—'स्यात अवक्तव्यम्' की गणना चौथे भङ्ग के रूप में हुई है। इसके अतिरिक्त 'राजवार्तिक, श्लोक-वार्तिक, अष्टसहस्री आदि दिगम्बर ग्रन्थों में भी 'स्यात' अवक्त-व्यम्' को ही चौथा भङ्ग कहा गया है और उसकी गणना विकला देशी के रूप में हुई है। सत्यतत्व केवली भगवान या बहुश्रुत ही भगवान या बहुश्रुत ही जाने। 'आगमसार' के अनुसार सप्त-भंगी का स्वरूप और क्रम इस प्रकार है:—

१ स्यात् अस्ति
२ स्यात् नास्ति
३ स्यात् अस्ति नास्ति
४ स्यात् अवक्तव्य
५ स्यात् अस्ति अवक्तव्य
६ स्यात् नास्ति अवक्तव्य
७ स्यात् अस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य

१७

सप्तभंगी

अनेकान्त स्वरूप का समर्थन

अर्पितानर्पित सिद्धेः ।३१।

(अर्पित + अनर्पित + सिद्धेः)

शब्दार्थ—

अर्पित—अर्पणा—अपेक्षा से

अनर्पित—अनर्पणा—अन्य अपेक्षा से

सूत्रार्थ—प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है क्योंकि अर्पित याने अर्पणा अर्थात् अपेक्षा से और अनर्पित याने अनर्पणा अर्थात् अन्य अपेक्षा से विरुद्ध स्वरूप सिद्ध होता है।

विशेषार्थ–व्याख्या

प्रश्न—इस सूत्र का क्या उद्देश्य है?

उत्तर—परस्पर विरुद्ध किन्तु प्रमाण सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु में किस प्रकार हो सकता है, यह बताना। साथ ही विद्यमान अनेक धर्मों में से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन कैसे होता है, यह बताना इस सूत्र का उद्देश्य है।

प्रश्न—वस्तु का विशिष्ट स्वरूप कब सिद्ध होता है, यह उदाहरण दे कर समझाइये।

उत्तर—विशिष्ट स्वरूप तभी सिद्ध होता है जब उसको स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् माना जाता है। उदाहरण के तौर पर–आत्मा सत् है, ऐसी प्रतीतियां उक्ति में जो सत्व का ज्ञान होता है, वह सब प्रकार से घटित नहीं होता। यदि ऐसा हो तो आत्मा चेतनादि स्वरूप की तरह अचेतनादि पर रूप से भी सिद्ध माना जायगा। अर्थात् आत्मा में चेतनादि के समान घटत्व भी भासमान होगा। इससे उसका विशिष्ट स्वरूप सिद्ध

ही नहीं होता। विशिष्ट स्वरूप का अर्थ ही यह है कि वह स्वरूप से सत और पर रूप से सत् नहीं अर्थात् असत्। इस प्रकार अमुक अपेक्षा से सत्व और अन्य अपेक्षा से असत्व ये दोनों धर्म आत्मा में सिद्ध होते हैं। जो बात सत्वासत्व के विषय में है वही बात नित्यत्व-अनित्यत्व के विषय में भी है। नित्यत्वा-नित्यत्व भी आत्मा में सिद्ध होता है। द्रव्य (सामान्य) दृष्टि से नित्यत्व और पर्याय (विशेष) दृष्टि से अनित्यत्व। इस तरह परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले, परन्तु अपेक्षा भेद से सिद्ध ऐसे दूसरे भी एकत्व अनेकत्व आदि धर्मों का समन्वय आत्मा आदि सभी वस्तुओं में अबाधित है। यही कारण है कि सभी पदार्थ अनेक धर्मात्मक माने जाते हैं।

अब उक्त सूत्र की ही दूसरी व्याख्या करते हैं:—

'अर्पितानर्पित सिद्धेः'

(सप्तभंगी का स्वरूप)

सूत्रार्थ —प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है, क्योंकि अर्पणा और अनर्पणा अर्थात् विवक्षा के कारण प्रधान अप्रधान भाव से व्यवहार की सिद्धि-उपपन्ति होती है।

विशेषार्थ—व्याख्या

प्रश्न—प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है; क्योंकि अर्पणा तथा अनर्पणा से अर्थात् अपेक्षा के कारण प्रधान अप्रधान भाव से व्यवहार की सिद्धि-उपपत्ति होती है—यह उदाहरण के साथ समझाइये।

उत्तर—अपेक्षा भेद से सिद्ध होने वाले अनेक धर्मों में से भी कभी किसी एक धर्म द्वारा और कभी इसके विरुद्ध अन्य धर्म द्वारा वस्तु का व्यवहार होता है यह अप्रामाणिक अथवा बाधित नहीं है। क्योंकि वस्तु विद्यमान सभी धर्म एक साथ में विवक्षित

नहीं होते; प्रयोजनानुसार कभी एक की तो कभी दूसरे धर्म की विवक्षा होती है। जब जिस धर्म की विवक्षा होती है, तब वह प्रधान और दूसरे अप्रधान माने जाते हैं। जो कर्म का कर्ता है, वही उसके फल का भोक्ता हो सकता है। कर्म का और तज्जन्यफल का समानाधिकरण बताने के लिये आत्मा में द्रव्य दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व की अपेक्षा की जाती है। इस समय इसका पर्याय दृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित नहीं है; अतः वह गौण है। परन्तु कर्तव्य काल की अपेक्षा से भोक्तृत्व काल में आत्मा की अवस्था परिवर्तित हो जाती है। कर्म और फल के समय का अवस्था भेद बताने के लिये जब पर्याय दृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब द्रव्य दृष्टि से नित्यत्व की प्रधानता नहीं होती। इस प्रकार विवक्षा और अविवक्षा के कारण आत्मा कभी नित्य और कभी अनित्य कही जाती है। जब उभय धर्मों की विवक्षा सम काल में होती है; तब दोनों धर्मों का युगपत् प्रतिपादन कर सकने वाले किसी वाचक शब्द के अभाव में आत्मा को अवक्तव्य कहा जाता है। विवक्षा, अविवक्षा और सह विवक्षा की वजह से ऊपर की तीन वाक्य रचनाओं के पारस्परिक विविध मिश्रण से अन्य चार रचनाएँ और भी बनती हैं, यथा—नित्यानित्य, नित्य अवक्तव्य, अनित्य अवक्तव्य और नित्यानित्य अवक्तव्यो इस प्रकार की सात रचनाओं को सप्तभंगी कहा जाता है। इनमें से पहिले तीन वाक्य और उसमें भी दो वाक्य मूल हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व और अनित्य का विवक्षा को लेकर किसी एक वस्तु में सप्तभङ्गी प्रयुक्त की जा सकती है। इसी तरह अन्य भी भिन्न-भिन्न दृष्टि से सिद्ध किन्तु परस्पर विरुद्ध दिखाइ देने वाले सत्व असत्व, एकत्व-अनेकत्व, वाच्यत्व-अवाच्यत्व आदि धर्म युग्मों को लेकर सप्तभङ्गी योजित की जानी चाहिये। इससे एक बड़ी

वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक प्रकार के व्यवहार का विषय माना जाता है।

वस्तु एक होते हुये भी अनेक रूप हैं।

अर्पित अनर्पित सिद्धेः*
जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।
जे सव्वं जाणई से एगं जाणई॥

तथा—

एकोभावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वेभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः॥
सर्वेभावाः सर्वथा येन दृष्टाः।
एकोभावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

(स्याद्वादमञ्जरी पृ० १४)

भावोद्घाटन—प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होने के कारण भाव अभाव रूप है।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है और पर रूप से अविद्यमान है। इतना होते हुये भी वस्तु को जो सर्वथा भावरूप से माना जायगा तो एक वस्तु के सद्भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्भाव मानना पड़ेगा और कोई भी वस्तु अपने स्वभाव वाली मालूम न होगी। यदि वस्तु का सर्वथा अभाव माना जायगा तो वस्तुओं को सर्वथा स्वभाव रहित मानना पड़ेगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि—'घट में घट को छोड़ कर सर्व वस्तुओं का अभाव मानने से घट अनेक रूप से सिद्ध होगा।' अतः ज्ञात होता है कि एक पदार्थ का ज्ञान करने के साथ साथ अन्यपदार्थों का ज्ञान होता है। कारण यह है कि वह उससे भिन्न

*"सरल स्याद्वाद समीक्षा" (तृतीय आवृत्ति पृ०१८ से उद्धृत।

सब पदार्थों की व्यावृत्ति (अभाव) का कथन नहीं कर सकता। आगम में भी कहा है कि—"जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है" इसी प्रकार जिसने एक पदार्थ को सम्पूर्ण रीत्या जान लिया है, उसने समस्त पदार्थों को सब प्रकार से जान लिया है और जिसने सब पदार्थों को सब प्रकार से जान लिया है, वह एक पदार्थ को भी भली भाँति जान लेता है।

अन्य दर्शन में श्वेतकेतु के पिता अरुणी ने कहा कि "मिट्टी के एक पिण्ड को जानने से मिट्टी से बनी वस्तु मात्र का ज्ञान हो जाता है" यह बात भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करती है।

मुद्रकः—
रामसेवक खड्ग,
स्वाधीन प्रेस, झाँसी।